Chapter - 3

तृतीय अध्याय

✳ अध्याय - 3 ✳

मोहन राकेश की रंगदृष्टि :

(i) मौलिक और निजी रंगदृष्टि की तलाश :

हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में मोहन राकेश के नाटक कई स्तरों पर बहुत बड़े परिवर्तन एवं नये दिशा-संकेत लेकर आते हैं। उनके नाटकों ने न सिर्फ हिन्दी नाटकों की संवेदना और रूपबंध में आमूल परिवर्तन के संकेत दिए, बल्कि हिन्दी रंगमंच की दिशा को व्यापक रूप से प्रभावित किया। हिन्दी रंग-परिदृश्य पर राकेश का आगमन उस समय हुआ जब स्वाधीनता के बाद सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर पूरे देश को और जीवन के हरेक क्षेत्र को आंदोलित कर रही थी। राकेश के आगमन से पूर्व हिन्दी नाट्य परिदृश्य में पर्याप्त जागरुकता एवं सक्रियता विद्यमान थी, लेकिन इन सबके बावजूद हिन्दी रंगकर्म को एक गंभीर और दायित्वपूर्ण कलात्मक एवं रचनात्मक क्रिया-कलाप के रूप में व्यापक प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई थी। राकेश के नाटकों ने हिन्दी रंग-कर्म को एक समर्थ एवं महत्वपूर्ण कला माध्यम के रूप में व्यापक स्वीकृति दिलाने, उसे राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने तथा अपनी बहुसंख्यक एवं वैविध्यपूर्ण प्रस्तुतियों से इसे दो-चार महानगरों के सीमित दायरे से आगे बढ़ाकर छोटे-बड़े नगरों एवं कस्बों तक विस्तार देने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया है। सुप्रसिद्ध निर्देशक ब.व. कारंत की मान्यता है कि 'अलकाज़ी द्वारा प्रस्तुत 'आषाढ़ का एक दिन' से पहले हिन्दी रंगमंच था ही नहीं।' अतः स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की विकास परंपरा में मोहन राकेश के नाटक इस क्षेत्र में व्याप्त साहित्यिक एवं रंगमंचीय नाटक जैसे कृत्रिम एवं भ्रामक वर्गीकरण को तोड़कर एक नई सार्थक रंग-परंपरा की शुरूआत करते हैं साथ ही इसके माध्यम से हिन्दी रंगकर्म को व्यापक स्वीकृति दिलाने एवं वयस्क बनाने का काम भी करते हैं। इस दृष्टि से 1958 में प्रकाशित राकेश का प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' एक उल्लेखनीय दस्तावेज़ है जिसमें नाटककार ने पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धियों से प्रभावित और आक्रांत हो रहे हिन्दी रंगमंच के स्वस्थ विकास के लिए अपनी मौलिक रंगदृष्टि की तलाश पर ज़ोर दिया है। मोहन राकेश की स्पष्ट मान्यता है कि :

"हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परंपरा के साथ अनुस्यूत नहीं है। पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धियाँ ही हमारे सामने हैं। परन्तु न तो हमारा जीवन उन सब उपलब्धियों की माँग करता है और न ही यह संभव प्रतीत होता है कि हम उस रंगशिल्प को व्यापक रूप से ज्यों का त्यों अपने यहाँ प्रतिष्ठित कर दें। .. .. ..

.. .. .. हिन्दी रंगमंच को हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे संवेगों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए, जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूपविधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों इसका विकास होगा।"[1]

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की भूमिका के रूप में लिखे गए राकेश के उपरोक्त वक्तव्य को हिन्दी रंगमंच के लिए एक निजी रंगदृष्टि की तलाश के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। इस रंगदृष्टि का पहला आयाम जो राकेश के नाटकों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, वह है : नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित संबंध की पहचान तथा नाटककार एवं रंगकर्मी के अपरिहार्य पारस्परिक सहयोग की स्वीकृति। राकेश के अनुसार किसी भी सार्थक रंग प्रक्रिया में नाटककार, निर्देशक तथा अभिनेताओं का पारस्परिक सहयोग अनिवार्य है। हिन्दी रंगमंच में नाटककार और रंगमंच के संबंध विधान को रेखांकित करते हुए राकेश ने लिखा है :

"एक तो अपने यहाँ, विशेष रूप से हिन्दी में, उस तरह का संगठित रंगमंच है ही नहीं, जिसमें नाटककार के एक निश्चित अवयव होने की कल्पना की जा सके, दूसरे उस तरह की कल्पना के लिए मानसिक पृष्ठभूमि भी अब तक बहुत कम तैयार हो पायी है। रंगमंच का जो स्वरूप हमारे सामने है, उसकी पूरी कल्पना परिचालक और उसकी अपेक्षाओं पर निर्भर करती है। . .. .

नाटककार की स्थिति एक ऐसे 'अजनबी' की रहती है जो केवल इसलिए कि पाण्डुलिपि उसकी है, एक नाटक के सफल अभिनय के रास्ते में खामख्वाह अड़ंगा लगा रहा है।

.. .. .. रंगमंच की पूरी प्रयोग-प्रक्रिया में नाटककार केवल एक अभ्यागत सम्मानित दर्शक या बाहर की इकाई बना रहे, यह स्थिति मुझे स्वीकार्य नहीं लगती। न ही यह कि नाटककार की प्रयोगशीलता उसकी अपनी अलग चार दीवारी तक सीमित रहे और क्रियात्मक रंगमंच की प्रयोगशीलता उससे दूर अपनी अलग चार दीवारी तक। इन दोनों को एक धरातल पर लाने के लिए अपेक्षित है कि नाटककार पूरी रंग-प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग बन सके।"[2]

'नाटककार और रंगमंच' नामक निबंध में व्यक्त राकेश के उपरोक्त विचार न केवल नाटककार और रंगमंच के आपसी संबंध पर प्रकाश डालते हैं, बल्कि एक सफल एवं संपूर्ण रंग-प्रक्रिया में नाटककार, निर्देशक एवं अभिनेता के आपसी सहयोग पर बल देते हैं। राकेश के अनुसार रंग-प्रक्रिया एक निरंतर एवं जटिल प्रक्रिया है जिसके बीच नाटककार का एक अनिवार्य अंग की तरह होना और इस प्रक्रिया के क्रम में निर्देशक और अभिनेता की तरह ही शब्दों के स्तर पर बार-बार प्रयोग करते रहना आवश्यक है। इस तरह के आपसी सामंजस्य एवं निरंतर प्रयोग के द्वारा ही उस वातावरण की सृष्टि की जा सकती है, जिसमें रंगमंच की वास्तविक खोज शामिल हो - लेखन के स्तर पर भी और निर्देशन के स्तर पर भी। इस संदर्भ में राकेश द्वारा 'लहरों के राजहंस' के तीसरे अंक का पुनर्लेखन - नाटककार एवं निर्देशक के रचनात्मक संबंध का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रसिद्ध निर्देशक श्री श्यामानन्द जालान के साथ नाटक की रिहर्सल के दौरान काम करते हुए, और नाटक की पूरी अन्विति में एक-एक शब्द को परखते हुए, इस नाटक के तीसरे अंक का पुनर्लेखन प्रस्तुतीकरण की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही किया गया।

कालांतर में राकेश ने निर्देशक के आरोपित आतंक और अतिरिक्त महत्व को अस्वीकार करते हुए 'नाटककार का रंगमंच' की धारणा का समर्थन किया और अपने रंग संपूर्ण नाट्यालेखों के माध्यम से रंगकर्म में नाटककार की महत्वूपर्ण भूमिका को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। अपने समय में जयशंकर प्रसाद ने भी हिन्दी रंगमंच के विकास के लिए इसी तरह की धारणा का समर्थन करते हुए लिखा था कि :

"रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। .. .. .. इन सबके सहयोग से ही हिन्दी रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है।"[3]

रंगमंच के संबंध में प्रसाद का उपरोक्त वक्तव्य एक नई रंगदृष्टि की ओर संकेत करता है जो नाटक को महज लेखक या निर्देशक की रचना न मानकर उसे एक सहयोगी प्रयास के रूप में देखता है। नाटककार द्वारा शब्दों में लिखे नाट्यालेख को जब तक रंगकर्मी और निर्देशक मिलकर एक सांस्कृतिक - सामाजिक क्रिया कलाप के रूप में मंच पर सजीव नहीं करते, तब तक वह अपनी संपूर्णता को प्राप्त नहीं होता। आलेख की संपूर्णता एवं सार्थकता अनिवार्यतः उसकी प्रस्तुति से जुड़ी होती है, इसलिए नाट्यालेख एवं प्रस्तुति के बीच एक अभिन्न एवं अनिवार्य संबंध आवश्यक है। नाटककार के शब्दाश्रित आलेख को निर्देशक संकेतों और प्रतीकों की भाषा का इस्तेमाल करते हुए दृश्य-सज्जा, मंच-सामग्री, पार्श्व संगीत, छायालोक एवं रूप विन्यास के साथ-साथ पात्रों के प्रवेश-स्थान और उनकी गतियों एवं मुद्राओं द्वारा न केवल प्रभावी दृश्य-बिंब में परिवर्तित करता है, बल्कि अपनी विचारधारा और मंतव्य के अनुकूल आलेख में छोटे-बड़े परिवर्तन या संशोधन भी करता है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप जन्मी रचना को प्रस्तुति आलेख (प्रोडक्शन स्क्रिप्ट) कहा जाता है। नाटककार के मूल आलेख पर आधारित निर्देशक के इस प्रस्तुति आलेख को अभिनेता अपने सृजनशील अभिनय द्वारा अर्थात् अपनी देह और वाणी के माध्यम से, गतियों, मुद्राओं, भंगिमाओं और क्रियाओं द्वारा दृश्य-बिम्बों में रूपांतरित करता है और सहृदय दर्शक की संवेदनशीलता उसके प्रभाव को ग्रहण करती है। इस प्रकार नाटककार द्वारा लिखित नाटक का प्रस्तुति-आलेख में रूपांतरण एक जटिल एवं सहयोगी प्रयास की प्रक्रिया है, जिसमें नाटककार, निर्देशक, अभिनेता एवं दर्शक की रचनात्मक भागीदारी अनिवार्य है। नाट्य-रचना के सहयोगी प्रयास संबंधी इस धारणा को राकेश ने बार-बार मुखर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। नाटक एवं रंगमंच के अन्योन्याश्रित संबंध का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि :

"बहुत बार ऐसा होता है कि रंगमंच की अपेक्षाओं के अनुसार नाटकों की रचना की जाती है, पर कई बार ऐसा भी होता है कि एक नाटक के लिए विशेष रंगमंच का संयोजन किया जाता है। परन्तु दोनों ही स्थितियों में नाटककार के सामने रंगमंच के रूपविधान का स्पष्ट होना आवश्यक है। .. .. विचार और भावपूर्ण गुंफित

भाषा नाटकीयता की कसौटी नहीं है। संवादों और घटनाओं को दृश्यों और अंकों में बाँट देना ही पर्याप्त नहीं, नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि वह जो कुछ लिखता है, उसे आँख मूँदकर अपनी कल्पना के रंगमंच पर घटित होते हुए भी देखे। .. .. एक कृति के रूप में नाटक तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जबकि उसमें रंगमंच पर अभिनीत होने की संभावनाएँ निहित हों। .. .. लिखा गया नाटक एक हड्डियों के ढाँचे की तरह है जिसे रंगमंच का वातावरण ही माँसलता प्रदान करता है।"[4]

नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित संबंध पर बल देने के साथ-साथ राकेश हिन्दी के निजी रंगमंच के विकास की बात भी बराबर करते रहे। उनके अनुसार हिन्दी रंगमंच का उत्थान पाश्चात्य रंगमंच की नकल में होने के कारण, उसका निजी व्यक्तित्व अभी तक निखर नहीं पाया है। उनके अनुसार हिन्दी के नये रंग-शिल्प के विकास के लिए जिस तरह के रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं अधिक खुला होना चाहिए। यह रंगमंच हमारी लोकरुचि और परंपरा दोनों को मान्यता देते हुए ही विकसित हो सकता है। हिन्दी के इस निजी रंगमंच के विकास पर ज़ोर देते हुए राकेश लिखते हैं कि -

"रंगमंच के विषय में सोचते हुए हम पाश्चात्य नाटक के रंग-शिल्प को दृष्टि में रखें और हिन्दी के निजी रंगमंच के विकास की बात करें, इसमें असंगति ही प्रतीत होती है। हिन्दी रंगमंच के विकास से निःसंदेह हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधाओं से संपन्न रंगशालाएँ राजकीय या अर्ध-राजकीय संस्थाओं द्वारा बनवा दी जायें, जहाँ हिन्दी के नाटककारों की रचनाओं का प्रदर्शन किया जा सके। यह प्रश्न केवल आर्थिक सुविधाओं का नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का है। हिन्दी का वास्तविक रंगमंच राजकीय आयोजनों से नहीं समर्थ नाटककारों और अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों विकसित होगा।"[5]

राकेश का उपरोक्त वक्तव्य हिन्दी नाटक एवं रंगमंच के वास्तविक उत्थान के लिए एक निजी रंगमंच के विकास की आवश्यकता को रेखांकित करता है। हिन्दी के इस निजी रंगमंच का स्वरूप किस प्रकार का हो, इसका खुलासा करते हुए वे लिखते हैं -

"... ... हमारे दैनंदिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए हमारे व्याह-त्यौहारों के स्पंदनों को आकार देने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य शैली के रंगमंच से कहीं अधिक खुला होना चाहिए। हरे या स्लेटी रंग की पृष्ठभूमि की बजाए हम हल्दी, चंदन और गेरू के रंगों का स्पर्श देकर ऐसी पृष्ठभूमि क़ी रचना कर सकते हैं जो सभी तरह के दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त और आँखों पर सुखकर प्रभाव छोड़नेवाली हो। आधुनिक पाश्चात्य रंगमंच की तरह कैन्वस, गत्ते और लकड़ी की सेटिंग देने और पार्श्व संगीत तथा लाइट और साउंड के इफैक्ट इत्यादि की चर्चा बाद की चीज़ है।"[6]

यह एक सुखद आश्चर्य ही है कि हिन्दी रंगमंच के अभ्युत्थान की चर्चा करते हुए जयशंकर प्रसाद भी हिन्दी के इसी तरह के रंगमंच के विकास पर बल देते हैं जो न केवल खुला और विस्तृत हो बल्कि भारतीय सामाजिक परंपरा के अनुकूल हो। प्राचीन भारतीय रंगमंच का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि उस समय का रंगमंच इतना पूर्ण और विस्तृत होता था कि उसमें बैलों से जुते हुए रथ और घोड़ों के रथ तथा हेमकूट पर चढ़ती अप्सराएँ दिखलायी जा सकती थीं। इसी प्रकार रंगमंच में आकाशगामी-सिद्ध-विद्याधरों के विमानों के दृश्य भी दिखलाए जाते थे। इन दृश्यों के दिखलाने में मोम, मिट्टी, तृण, लाख, अभ्रक, काठ, चमड़ा, वस्त्र और बाँस के फंठों से काम लिया जाता था। हिन्दी रंगमंच में भारतीय लोक परंपरा के संस्कारों के महत्व को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं :

"जिस तरह हम वास्तविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय को भी देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संग्रहित रहना चाहिए । .. श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की आस्थाओं को देखकर जिस हिन्दी रंगमंच की स्वतंत्र स्थापना की थी, उसमें इन सबका समन्वय था। .. .. .. हिन्दी रंगमंच की इस स्वतंत्र चेतना को सजीव रखकर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नयी पश्चिमी प्रेरणाएँ हमारी पथ प्रदर्शिका न बन जाएँ। हाँ, इन सब साधनों से जो वर्तमान विज्ञान द्वारा उपलब्ध हैं, हमको वंचित भी न होना चाहिए।"[7]

उपरोक्त उद्धरण हिन्दी रंगमंच की स्वतंत्र और मौलिक सत्ता की स्थापना पर ज़ोर देता है, जो अपने विकास क्रम में अन्य देशों के रंगमंच से निश्चय ही भिन्न होगा। मोहन राकेश की भी यही मान्यता है कि हर देश में रंगमंच का विकास-क्रम वही नहीं होगा, जो विकसित देशों में है। राकेश के अनुसार इस प्रक्रिया में हम प्रयोगशीलता के नाम पर अंधाधुंध अनुकरण करते हुए उसी विकास-क्रम में से गुज़रने का आभास दे रहे हैं, जो पहले पश्चिमी देशों में हो चुका है। यह तथाकथित प्रयोगशीलता हमें किसी वास्तविक उपलब्धि तक नहीं पहुँचाती है। रचनात्मक एवं सच्चा प्रयोग तो रंगमंच के शब्द और मानव-पक्ष को समृद्ध बनाकर ही किया जा सकता है केवल बाह्य उपकरणों की नकल करके नहीं। रंगमंच में प्रयोगशीलता की स्थिति पर अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं :

" .. .. हम प्रयोगशीलता के नाम पर अनुकरणात्मक प्रयोग करते हुए किन्हीं वास्तविक उपलब्धियों तक नहीं पहुँच सकते, केवल उपलब्धियों के आभास से अपने को अपनी अग्रगामिता का झूठा विश्वास दिला सकते हैं। यह दृष्टि बाहर से रंगमंच को एक नया और आधुनिक रूप देने की है, अपने निजी जीवन और परिवेश के अंदर से रंगमंच की खोज की नहीं। .. .. .. तकनीकी रूप से समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच भी अपने मन में विकास की एक दिशा है, परन्तु उससे हटकर एक दूसरी दिशा भी है और मुझे लगता है कि हमारे प्रयोगशील रंगमंच की भी वही दिशा हो सकती है। वह

दिशा रंगमंच के शब्द और मानव-पक्ष को समृद्ध बनाने की है - अर्थात् न्यूनतम उपकरणों के साथ संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग कर सकने की।"[8]

इस प्रकार यह स्पष्ट है राकेश हिन्दी रंगमंच की स्वतंत्र एवं निजी सत्ता की स्थापना के पक्षधर थे, जिसका विकास भारतीय लोकजीवन की पहचान एवं हमारी अपनी रंग-परंपरा के आधार पर होगा। जीवन एवं परिवेश तथा भारतीय रंग-परंपरा के तत्वों की खोज ही हमें वास्तविक नये प्रयोगों की दिशा में ले जा सकती है और एक अभिनव रंग-शिल्प को जन्म दे सकती है। विदेशी रंगमंच के बाह्य उपकरणों का अंधाधुंध आयात प्रगतिशीलता का झूठा विश्वास तो दिला सकता है लेकिन वास्तविक उपलब्धि तक नहीं पहुँचा सकता। राकेश की रंगदृष्टि की दूसरी महत्वपूर्ण अवधारणा रंग-प्रक्रिया को एक 'सहयोगी प्रयास' के रूप में देखने की है, जिसमें नाटककार, निर्देशक, अभिनेता एवं दर्शकों की रचनात्मक हिस्सेदारी अनिवार्य है।

(ii) नई नाट्यभाषा की खोज :

मोहन राकेश की रंगदृष्टि का सबसे महत्वपूर्ण आयाम एक नई नाट्यभाषा की अनवरत तलाश है जो अपने समय के जटिल जीवन-अनुभव को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त कर सके। नाट्यभाषा की बनावट की सही पहचान हिन्दी नाटक को उनका सबसे बड़ा योगदान कहा जा सकता है। प्रसिद्ध नाटककार आइनेस्को की मान्यता है कि कलाकार भाषा को बदलकर ही पुराने कथानकों को नया रूप दे सकता है। उनके अनुसार चली आती हुई भाषा आज के संश्लिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिहाज़ से नाकाफ़ी है अतः एक नई नाट्यभाषा की तलाश आवश्यक है। एक ऐसी भाषा जो दृश्य हो, जो मंच की भाषा हो, ज्यादा प्रत्यक्ष, ज्यादा विश्वसनीय और अपने प्रभाव में शब्दों से कहीं अधिक शक्तिशाली। हिन्दी नाट्य साहित्य में नाटक एवं रचनात्मक भाषा के संबंध की पूरी निष्ठा के साथ तलाश एवं इस प्रक्रिया में एक नई नाट्य भाषा के विकास का प्रयास सर्व प्रथम राकेश में ही दिखाई देता है। साहित्य में भाषा के पक्ष को लेकर राकेश कितने जागरूक थे, यह 'बकलम खुद' में अभिव्यक्त उनके इस वक्तव्य से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है :

"अभिव्यक्ति के लिए भाषा से उलझने की समस्या हर लेखक के सामने आती है - अर्थात् हर सचेत और अनुभूति प्रवण लेखक के सामने। समस्या नहीं आती तो उन लोगों के सामने, जो अनुभूति और चिन्तन की दृष्टि से अंदर से बिल्कुल साफ हैं या केवल कुछ एक बेसिक अनुभूतियों और विचारों के दायरे में सोचते रहते हैं। .. .. उन्हें अपने मन की हर बात के लिए उपयुक्त भाषा जरूर मिल जाती है क्योंकि उनके मन की हर बात पहले से ही किसी न किसी की कहीं और सोची हुई बात होती है। हज़ारों बार कही और सोची हुई बातों की कार्बन कापी तैयार करने में समस्या पैदा ही कहाँ होती है ? जब एकाध विचार और दो-एक अनुभूतियों से आगे

व्यक्ति का मन यात्रा ही न कर पाता हो तो उलझे हुए रास्ते पार करने की समस्या ही नहीं होगी, उसके लिए साधन ढूँढ़ने की बात तो बाद में आती है।"[9]

मोहन राकेश का उपरोक्त वक्तव्य भाषा के संबंध में उनकी जागरूकता को स्पष्ट कर देता है। उन्होंने तब लिखना शुरू किया जब देश मोहभंग के काल से गुज़र रहा था। स्वतंत्रता के बाद एक ओर देश का विभाजन जैसी राजनीतिक विपत्ति थी जिसके लाखों लोग शिकार हुए तो दूसरी ओर उससे भी अधिक दर्दनाक थी विभाजन के बाद की परिस्थिति एवं जीवन के सभी पहलुओं में बढ़ता पतन। इस मूल्यहीनता की स्थिति ने न केवल करोड़ो लोगों को प्रभावित किया बल्कि अधिकांश को अन्दर से खोखला कर दिया। जाहिर है स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न हुई जीवन और अनुभूतियों की इस जटिलता को पारंपरिक भाषा पूरी प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती थी। जो भाषा राकेश को विरासत में मिली थी, वह मुख्यतः प्रसाद की आभिजात्य भाषा थी। यह भाषा काव्यात्मक होते हुए भी समसामयिक जीवन के रंग को पकड़ पाने में पूरी तरह समर्थ नहीं थी। अतः एक ऐसी नाट्यभाषा की तलाश आवश्यक थी जो रंगानुकूल होने के साथ-साथ समसामयिक जीवन की जटिलता को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्ति दे सके।

एक शिल्पकार की तरह राकेश अपने शब्दों, वाक्यों और मुहावरों को निरंतर संशोधित परिवर्तित करते रहते थे। वह 'शब्द' को रंगमंच का बुनियादी एवं अनिवार्य तत्व मानते थे, इसीलिए एक सटीक एवं रंगानुकूल नाटकीय शब्द की तलाश वे लगातार करते रहे। राकेश का यह कथन कि रंगमंच मूलतः एक श्रव्य माध्यम है, नाटक के संबंध में चली आ रही परंपरागत धारणा को बिलकुल छिन्न-भिन्न कर डालता है। लेकिन उनका यह वक्तव्य महज चौंकानेवाली कोई युक्ति नहीं है, बल्कि भाषा और शब्द को लेकर उनके द्वारा किए गए गंभीर शोध पर आधारित है। अपने अप्रकाशित नाटक 'पैर तले की ज़मीन' में एक स्थान पर वह तीन विभिन्न दृश्यों को एक दूसरे में घुलते जाना दिखाना चाहते हैं। इसके लिए उनका फुटनोट इस प्रकार है :

"इन्हें थिएट्रिकली प्रतिष्ठित करो, शब्दों और ध्वनियों के द्वारा।"[10]

राकेश का उपरोक्त कथन नाटककार की इस मान्यता को स्पष्ट करता है कि शब्द और ध्वनियाँ ही रंगमंच की जान हैं, न कि बिम्ब जैसाकि पारंपरिक रूप से समझा जाता रहा है। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए राकेश लिखते हैं :

"शब्दों और ध्वनियों को नाटकीय रंगमंच का आधार मानने का अर्थ बिंब का अस्वीकार नहीं है। अर्थ केवल इतना है कि इस माध्यम की आंतरिक निरंतरता शब्दों और ध्वनियों पर निर्भर करती है। .. .. .. सिनेमा मूलतः एक दृश्य माध्यम है जहाँ शब्दों और ध्वनियों की एक सहायक अतः गौण भूमिका है वहाँ दृश्य की अपेक्षा के अनुसार शब्दों और ध्वनियों का संयोजन होता है और उस माध्यम की प्रगति को देखते हुए लगता है कि आगे चलकर उसकी आधारभूत विशेषता और रेखांकित

होगी। इसके विपरीत रंगमंच मूलतः एक श्रव्य माध्यम है। .. .. .. रंगमंच में दृश्य की आपेक्षिक स्थिरता के बावजूद जो एक आंतरिक गति रहती है, वह शब्दों और ध्वनियों की निरंतरता से ही उपजती है, क्योंकि यहां जो 'देखा' जाता है वह 'सुने जा रहे' का ही रूपांतर होता है।"[11]

राकेश का उपरोक्त वक्तव्य रंगमंच में शब्द की बुनियादी भूमिका को उद्घाटित करता है। उनके अनुसार दृश्य नाटक का अनिवार्य तत्व होते हुए भी वह अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। वह शब्द की ही परिणति है। रंगमंच की इस शब्द निर्भरता के कारण प्रत्येक नाटककार की सफलता शब्दों और ध्वनियों के सार्थक संयोजन में निहित होती है। राकेश के अनुसार नाटक में अलग से दिए गए रंग निर्देश या प्रस्तुत की गई सामग्री उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती, जितना शब्दों और ध्वनियों का संयोजन क्योंकि रंगमंच में बिंब का उद्भव शब्दों के बीच से ही होता है। उनके अनुसार किसी भी नाटक की सफलता नाटकीय प्रयोजन से युक्त शब्दों के सटीक प्रयोग पर निर्भर करती है। शब्दों का अतिरिक्त तथा अनपेक्षित प्रयोग वास्तविक रंग-सिद्धि में बाधक ही सिद्ध होता है। रंगमंच में शब्दों की इस महत्वपूर्ण भूमिका को उद्घाटित करते हुए राकेश लिखते हैं :

"रंगमंच की शब्द निर्भरता का अर्थ रंगमंच में शब्द की आधारभूत भूमिका है। इस भूमिका का निर्वाह माध्यम की सीमाओं में शब्दों के संयम से हो सकता है, उनके अतिरिक्त तथा अनपेक्षित प्रयोग से नहीं। शब्दों की बाढ़ से, या बिना नाटकीय प्रयोजन के प्रयुक्त शब्दों से, रंग-सिद्धि संभव नहीं, क्योंकि बिम्ब को जन्म देने के साथ-साथ उस बिम्ब से संयोजित रहने की संभावना भी शब्दों में होनी आवश्यक है।"[12]

शब्दों और ध्वनियों को रंगमंच का बुनियादी तत्व मानने के कारण ही राकेश आजीवन नाटकीय शब्द की तलाश में लगे रहे। उनके सभी नाटक रचनाकार की शब्द संबंधी मान्यता पर खरे उतरते हैं तथा नाटकीय संभावना से युक्त शब्दों के सटीक प्रयोग का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राकेश की रचनाओं में पहली बार भाषा नाटककार के अतिरिक्त शब्द-मोह, नाटकीय दृष्टि से निरर्थक शब्दजाल के आग्रह और आलंकारिकता के लबादे से सहसा मुक्त हुई है। यद्यपि अपने पहले दो नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'लहरों के राजहंस' में संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक भाषा के प्रयोग के कारण नाट्य-समीक्षकों ने राकेश को प्रसाद की परंपरा का वाहक माना है, लेकिन कई मायनों में राकेश की नाट्यभाषा प्रसाद की नाट्यभाषा से बुनियादी रूप से भिन्न है। प्रसाद के नाटकों में काव्यात्मकता और अलंकारप्रियता कई स्थानों पर नाट्य-भाषा को बाँधती हुई चलती है एवं रंग-सिद्धि में बाधा उत्पन्न करती है वहीं राकेश की भाषा साहित्यिक होते हुए भी नाटकीय संभावना से युक्त है एवं आम बोलचाल के काफी निकट है। इस संदर्भ में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

"मल्लिका : माँ, आज के वे क्षण मैं कभी नहीं भूल सकती। सौंदर्य का ऐसा साक्षात्कार मैंने कभी नहीं किया। जैसे वह सौन्दर्य अस्पृश्य होते हुए भी मांसल हो, मैं

उसे छू सकती थी, देख सकती थी, पी सकती थी। तभी मुझे अनुभव हुआ कि वह क्या है जो भावना को कविता का रूप देता है। मैं जीवन में पहली बार समझ पायी कि क्यों कोई पर्वत-शिखरों को सहलाती मेघ-मालाओं में खो जाता है, क्यों किसी को अपने तन-मन की अपेक्षा आकाश में बनते-मिटते चित्रों का इतना मोह हो रहता है। . .. .. क्या बात है माँ ? इस तरह चुप क्यों हो ? "[13]

X X X X X X X

"सुन्दरी : बोल नहीं ! चुपचाप सुन !

कलरव धीरे-धीरे शांत पड़ जाता है।

इस स्वर की कहीं तुलना है ? कह नहीं सकती क्या अधिक सुन्दर है ? - ओस से लदे कमलों के बीच राजहंसों के इस जोड़े की किलोल या इस झुटपुटे अँधेरे में दूर से सुनाई देता इनका कूजन ! आज पहली बार इन्हें इस समय बोलते सुना है। (जरा हँसकर) कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमल-ताल के पास आकर इनसे वे भी निर्वाण और अमरत्व की बातें कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर काँपती हुई लहरें जिधर ले जाएंगी, उधर को तैर जाएंगे। शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन उपदेश देने को नहीं होगा। मैं चाहूँगी कि उस दिन .. .. ..। "[14]

उपरोक्त उदाहरणों से बिल्कुल स्पष्ट है कि साहित्यिक होते हुए भी यह भाषा नाटकीय संभावना से परिपूर्ण है एवं आम बोलचाल के निकट है। एक विशेष काल-खंड का आभास देने के लिए भाषा का संस्कृत-निष्ठ होना आवश्यक है, अतः राकेश ने भाषा में उसी हद तक काव्यात्मकता का उपयोग किया है। इस भाषा में महज अलंकारिकता की सृष्टि के लिए एक भी शब्द फालतू नहीं रखा गया है। राकेश के प्रारंभिक नाटकों की भाषा की इस विशेषता को रेखांकित करते हुए श्री गिरीश रस्तोगी ने लिखा है :

"राकेश ने साहित्यिक भाषा को नाटक के अनुरूप ढाल लिया है, उसे रंगमंच की भाषा के निकट ला दिया है। उनके दोनों नाटकों की भाषा केवल इस मायने में साहित्यिक है कि वह संस्कृत-निष्ठ हिन्दी है, केवल उतनी ही जितनी कि एक काल-विशेष को पृष्ठभूमि में रखने के कारण अपेक्षित यथार्थभ्रम की सृष्टि के लिए आवश्यक है।"[15]

वस्तुतः राकेश के नाटकों की साहित्यिकता अपने परिवेश को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त करने के दबाव के कारण है। लेकिन इसी बहाने राकेश ने हिन्दी नाटक में उस काव्य तत्व को फिर से प्रतिष्ठित किया जिसकी अनुगूँज जयशंकर प्रसाद के नाटकों - चंद्रगुप्त एवं स्कन्दगुप्त में दिखाई पड़ती है। प्रसाद के बाद की यथार्थवादी नाट्य-परंपरा ने इस काव्य तत्व और साहित्यिक गुणों को हिन्दी नाटक से पूरी तरह निर्वासित कर दिया था। दरअसल मोहन राकेश ने अपने पहले ही नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में एक ऐसी नाट्यभाषा की खोज की, जिसमें शब्दों की

अभूतपूर्व मितव्ययता के साथ-साथ गहरी काव्यात्मकता एवं नाटकीय लय का संयोजन भी है। 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा के संदर्भ में व्यक्त किए गए श्री सुरेश अवस्थी के विचार राकेश के प्रारंभिक नाटकों की विशेषताओं को पूरी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करते हैं -

"इस नाटक में राकेश ने फिर से उस काव्य-तत्व को प्रतिष्ठित किया, जिसे यथार्थवादी नाट्य-परंपरा ने नाटक से निर्वासित कर दिया था। मल्लिका के लम्बे स्वगत-कथन हिन्दी नाट्य-साहित्य में सर्वाधिक काव्यात्मक पंक्तियों में से हैं। जयशंकर प्रसाद ने तीसरे दशक के प्रारंभ में 'चंद्रगुप्त' तथा 'स्कंदगुप्त' जैसे ऐतिहासिक नाटक लिखे थे, जिनमें काव्य-तत्व की जबरदस्त क्षमता है, कोई तीन दशकों बाद राकेश ने नाटक में काव्य-तत्व की फिर से प्रतिष्ठा की। .. .. .. इस नाटक में शब्दों की अपूर्व क्षमता, श्रेष्ठ काव्यात्मकता एवं भाषा की लय को आसानी से महसूस किया जा सकता है।" [16]

ज़ाहिर है काव्यात्मकता से समृद्ध नाट्यभाषा मोहन राकेश की हिन्दी नाटक को बहुत बड़ी देन है, अतः अनेक नाट्य समीक्षकों ने उनकी इस समृद्ध नाट्यभाषा की काफी प्रशंसा की। लेकिन स्वयं मोहन राकेश अपने प्रारंभिक नाटकों की भाषा से पूरी तरह संतुष्ट नहीं थे। उनके अनुसार उनके समकालीन अधिकांश नाटककार शब्दों के साहित्यिक प्रभाव से आक्रांत थे। ज्यादातर नाटकों में शब्दों का फिजूल प्रयोग किया जाता था। अपने पहले दो नाटकों के बारे में राकेश की मान्यता थी कि मूलतः ये दोनों नाटक साहित्यिक गुणों से युक्त होने के कारण सराहे गए। लेकिन इसी कारण वे आसपास की जिंदगी की लय और मिज़ाज को पकड़ने में असफल रहे। उनके अनुसार आवश्यकता एक ऐसी नाट्यभाषा की तलाश की है, जो अधिक प्रत्यक्ष एवं मानव मन को झकझोर देनेवाली हो, जो अपने आसपास की सच्चाई को पूरी ईमानदारी एवं सहजता से दर्शकों तक पहुँचा सके। प्रसिद्ध निर्देशक मोहन महर्षि के साथ साक्षात्कार में राकेश ने समसामयिक नाटकों की भाषा पर टिप्पणी करते हुए तथा एक नयी नाट्यभाषा के विकास पर बल देते हुए लिखा है :

"हम लोगों में से अधिकांश नाटक में शब्दों का प्रयोग सिर्फ उनके साहित्यिक प्रभाव के लिए करते हैं। अभी तक के नाटककार मूलतः एक साहित्यिक व्यक्ति रहे हैं और वे शब्दों के साहित्यिक प्रयोग के प्रति जरूरत से ज्यादा आकर्षित रहे हैं। अधिकांश नाटकों में शब्द जरूरत से ज्यादा लिखे जाते हैं। .. .. .. मेरे अपने ही नाटकों की बात करें तो पहले दो नाटक मूलतः साहित्यिक गुणों से युक्त होने के कारण ही सराहे गए। लेकिन इसी कारण वे आसपास की ज़िंदगी के मिज़ाज और उसकी लय को पकड़ने में असमर्थ रहे। .. .. .. अपने तीसरे नाटक में मैंने आसपास के जीवन की वास्तविकताओं से सीधे रूबरू होने का प्रयास किया तथा एक ऐसी भाषा की खोज का प्रयास किया, जो प्रत्यक्ष और लोगों से सीधी तौर पर संप्रेषण करनेवाली हो। .. .. .. पिछले तीन सालों से मैं एक ऐसी भाषा को खोजने का प्रयास

कर रहा हूँ जो वास्तव में शब्दों के समसामयिक मिज़ाज को पकड़ सके तथा सिर्फ रंगमंच के लिए लिखी गई हो।"[17]

राकेश का उपरोक्त वक्तव्य एक सचेत एवं अनुभूति संपन्न रचनाकार के भाषा के साथ होनेवाले अनवरत संघर्ष को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त करता है। एक सटीक नाट्यभाषा की उनकी खोज इतनी ईमानदार थी कि वे स्वयं अपने पहले के नाटकों की भाषा से पूरी तरह संतुष्ट नहीं थे। जहाँ अधिकांश नाट्य समीक्षकों ने 'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'लहरों के राजहंस' की श्रेष्ठ काव्यात्मकता की भूरि-भूरि प्रशंसा की, राकेश कभी भी भाषा की साहित्यिकता के प्रति मोहाविष्ट नहीं रहे। उनकी यह अनवरत आकांक्षा रही कि मैं अपनी रचना-यात्रा में 'जानने की भाषा' की बजाए 'जीने की भाषा' की और प्रस्थान कर सकूँ।

राकेश के अनुसार हमारे लोक नाटकों की भाषा 'जीने की भाषा' का एक उदाहरण है। इन लोक नाटकों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। खासकर वास्तविकताओं से प्रत्यक्ष साक्षात्कार का दृष्टिकोण। इन नाटकों की भाषा अभिनेता को जिस तरह की स्वतंत्रता एवं व्यक्तिगत उपलब्धि का अहसास कराती है, वह किसी भी श्रेष्ठ नाटक के लिए आवश्यक तत्व है। राकेश भी इसी तरह की सीधी-सच्ची भाषा के हिमायती थे, जो अभिनेता को स्वतंत्रता एवं व्यक्तिगत उपलब्धि का अहसास कराने के साथ-साथ दर्शकों तक सीधे पहुँच सके। उनके अनुसार :

"शब्द और ध्वनियों में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वे अभिनेता को आवेशित करने के उपरांत उसे मुक्त भी कर सके। हमारे लोक-नाटकों में ऐसा ही होता है। .. .. .. मेरे विचार से आज के किसी भी अच्छे नाटक में यह विशेषता होनी चाहिए कि वे उसी तरह की मुक्ति और व्यक्तिगत उपलब्धि का अहसास करा सके, जैसा कि एक लोक-कलाकार में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।"[18]

राकेश का उपरोक्त वक्तव्य शब्द और ध्वनियों के प्रति उनकी संवेदनशीलता और सजगता का परिचय देता है। सही शब्द की खोज, पहचान और उसके नाटकीय प्रयोग के विषय में राकेश प्रारंभ से ही अत्यंत जागरूक रहे हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' के नए एवं पुराने संस्करणों की तुलना करने से राकेश की बारीक कारीगरी, शब्दों की तराश, भाषा की चुस्ती और सृजनात्मक क्षमता का सहज ही आभास हो जाता है। 'आषाढ़ का एक दिन' के प्रथम संस्करण में निक्षेप के यह कहने पर कि कालिदास के मन में 'राजकीय सम्मान का कोई मोह नहीं है', अंबिका की प्रतिक्रिया है :

'नहीं चाहता ! हूँ ! '

नए संस्करण में 'हूँ' शब्द को बदलकर 'हँः' कर दिया गया है। शब्दों का यह परिवर्तन महज बाजीगरी नहीं है बल्कि राकेश के विकासशील रंगबोध का परिचय देता है। जहाँ 'हूँ' में एक प्रकार से निष्कर्ष की मुद्रा है वहीं 'हँः ' में घृणा और उपेक्षा का भाव प्रकट होता है। स्पष्टतः एक छोटे से अव्यय के परिवर्तन मात्र से जिस

प्रकार की अर्थछाया का उद्घाटन किया गया है वह निश्चय ही रचनाकार की सर्जनात्मक क्षमता का प्रतीक है। निःसंदेह 'हँः ' जैसे अव्यय से जिस घृणा और उपेक्षा का बोध होता है वह अंबिका के चरित्र और कालिदास से उसके संबंध को अधिक सक्षम ढंग से उद्घाटित करता है।

इसी प्रकार अपने नाटकों में राकेश ने अनेक बीज-शब्दों और ध्वनियों का प्रयोग किया है जो सिर्फ शब्द और ध्वनियाँ ही नहीं हैं बल्कि कार्य-व्यापार भी है, मौन भी है, मुद्राएँ भी है, इन शब्दों के माध्यम से नाटककार ने पारस्परिक संबंधों के तनाव, अलगाव, बिखराव, ऊब, कुढ़न, आक्रोश, विडम्बना एवं संघर्ष को 'जीने की भाषा' के रूप में प्रस्तुत किया है। 'घर', 'जंगल', 'हवा', 'मिट्टी के लौंदे', 'दरिंदा', 'छड़ी', 'कैंची', 'चेहरा' आदि ऐसे ही बीज शब्द हैं जिनके माध्यम से रचनाकार ने भाषा को एक नया अर्थ बोध दिया है। 'घर' महज एक संरचना का प्रतीक नहीं है अपितु यह एक सामान्य मनुष्य की संपूर्ण महत्वाकांक्षा को अभिव्यक्त करता है, इसी तरह 'जंगल' मध्यवर्गीय व्यक्ति के संबंधों में निरंतर बढ़ रहे उज़ाड एवं अजनबीपन के साथ-साथ पारिवारिक अव्यवस्था को भी व्यक्त करता है। 'हवा' मानवीय संबंधों में आई रिक्तता और अविश्वास की सूचक है जो घर में अब कुढ़न एवं अनिश्चितता बन कर छाई हुई है। 'मिट्टी के लौंदे' यदि एक असफल व्यक्तित्व का संकेत है तो 'दरिंदा' पाशविक वृत्ति का, 'छडी' अधूरेपन एवं असहाय स्थिति को दर्शाती है तो 'कैंची' बिखराव एवं कटाव की द्योतक है।

बीज शब्दों के अलावा राकेश ने कई तरह की ध्वनियों का भी प्रयोग किया है जो तनाव, आक्रोश एवं संबंधों के लगातार घिसने की स्थिति की सूचक हैं, जैसे - चख-चख, किट-किट इत्यादि। इसी प्रकार 'रिरियाना' मनुष्य की असहायता एवं पर-निर्भरता का संकेत देता है। बीज शब्दों एवं ध्वनियों के अतिरिक्त नाटककार ने तुतली भाषा और नाट्य विडम्बना पूर्ण शब्दों की पुनरावृत्ति का भी सार्थक प्रयोग किया है। शब्दों और ध्वनियों की पुनरावृत्ति द्वारा नाटककार ने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और हताशा की स्थिति को साकार किया है जैसे :

"साल पर साल .. .. इसका यह हो जाय .. .. उसका वह हो जाय !

एक दिन .. .. दूसरा दिन !

एक दिन .. .. दूसरा साल !

अब भी और सोचूँ थोड़ा !

कब तक .. .. क्यों ?

घर .. .. दफ्तर

घर .. .. दफ्तर

सोचो .. .. सोचो

चख - चख .. .. .. किट् - किट् .. .. .. चख - चख .. .. किट् - किट्

क्या सोचो ?

कुछ मत सोचो ! "[19]

अपने नाटकों में राकेश ने उत्सुकता और नाटकीय तनाव बनाए रखने के लिए अधूरे वाक्यों का साभास प्रयोग किया है जो संरचना की दृष्टि से अधूरे अवश्य हैं लेकिन अर्थवत्ता की दृष्टि से अपने आप में संपूर्ण हैं, यथा,

"विलोम : निःसंदेह ! तुम्हें ऐसा मोह क्यों होगा ? साधारण व्यक्ति को हो सकता है, तुम्हें क्यों होगा ? परन्तु मैं केवल इतना जानना चाहता था कि यदि ऐसा हो - क्षण भर के लिए स्वीकार कर लिया जाय कि तुम जाने का निश्चय कर लो .. .. तो उस स्थिति में क्या यह उचित नहीं कि .. .. "[20]

अधूरे किन्तु पूर्ण वाक्यों के साथ ही राकेश ने विराम, विस्मय-बोधक चिह्न, प्रश्नवाचक चिह्न एवं शब्दों तथा वाक्यों के बीच अन्तराल का भी सयत्न प्रयोग किया है जो नाटकीय सौंदर्य को बढ़ाता है। यही नहीं शब्दों के माध्यम से अनेक स्थानों पर रचनाकार ने आगामी घटनाओं एवं पूर्व-कथनों का संकेत भी अत्यंत कुशलतापूर्वक दिया है जैसे :

"स्त्री : बीना आई है बाहर।

पुरूष एक : फिर उसी तरह आई होगी ।"[21]

उपरोक्त उदाहरण में एक छोटे से अव्यय 'फिर' के माध्यम से नाटककार ने पूर्व-प्रसंग के दृश्य को पूरी तरह साकार कर दिया है। यह निश्चय ही नाटककार की मितव्ययता एवं शब्द-कुशलता का प्रमाण है।

अपने नाटकों में राकेश ने परिवेश की माँग के अनुसार शब्दों एवं वाक्य संरचना का गठन किया है। आषाढ़ के एक दिन की भाषा में जहाँ संस्कृत के शब्दों, जैसे आद्र, उष्णता, तल्प, वितृष्णा, विचक्षणता, उपत्यकाएँ इत्यादि का बाहुल्य है वहीं आधे-अधूरे की भाषा में आम-बोलचाल के शब्दों एवं उर्दू और अंग्रेजी की अधिकता है। इसका मूल कारण काल-विशेष की पृष्ठभूमि को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त करना है। जहाँ 'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'लहरों के राजहंस' की पृष्ठभूमि क्लासिकी युग की है वहीं आधे-अधूरे समकालीन मध्यवर्गीय परिवार के टूटने की प्रक्रिया को उद्घाटित करता है। इसीलिए आधे-अधूरे में फ़र्ज, शरम, ख्वार, हवास, गुम, नाशुक्रे, लिजलिजा, हासिल, गर्द, गुबार, आरामतलब, दरिंदा इत्यादि उर्दू के शब्द और बिजी, बॉस, मीटिंग, बोर्ड, कबर्ड आदि अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग संदर्भों को सही मायने देने के लिए किया गया है।

(iii) राकेश के नाटकों में प्रयुक्त विविध रंगयुक्तियाँ :

राकेश की रंगदृष्टि का एक महत्वपूर्ण आयाम है विभिन्न चरित्रों के अंतर को शब्दों, ध्वनियों और खास तरह की वाक्य संरचना के माध्यम से अभिव्यक्त करना। रचनाकार न सिर्फ आयु, व्यवसाय और पद में विभिन्नता रखनेवाले पात्रों को बल्कि इनमें बहुत दूर तक समानता रखने वाले चरित्रों को भी खास तरह की शब्द-योजना, ध्वनि-संयोजन और वाक्य-रचना के माध्यम से रेखांकित करने में सफल हुआ है। इसका सबसे सटीक उदाहरण श्यामांग और श्वेतांग द्वारा प्रस्तुत संवाद है। पहले अंक में श्यामांग कुल ग्यारह संवाद बोलता है जिनमें से केवल तीन वाक्यों की रचना निश्चयात्मक और सीधी है। शेष संवादों में वह 15 प्रश्न पूछता है और उनमें 19 स्थानों पर डॉट्स का प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत श्वेतांग के दस संवादों में से केवल एक संवाद ही प्रश्नवाचक है और वह भी श्यामांग के पहले संवाद की ही पुनरावृत्ति है। प्रश्नवाचक संवाद एवं विराम चिन्हों की बहुलता श्यामांग के अस्थिर व्यक्तित्व को चिन्हित करती है तो वाक्यों और शब्दों की पूर्णता श्वेतांग के स्थिर एवं संतुलित व्यक्तित्व को आकार देती है। इसी तरह 'आधे-अधूरे' में महेन्द्रनाथ के संवाद भी अधूरे शब्दों, वाक्यों तथा विराम चिन्हों से भरे हुए हैं जो उसके अपूर्ण व्यक्तित्व एवं अनिश्चित मानसिकता का द्योतक हैं। यही नहीं राकेश ने विभिन्न पात्रों की जीवनदृष्टि एवं खास चारित्रिक विशिष्टताओं को भी शब्द-योजना एवं वाक्य-संरचना के माध्यम से रेखांकित किया है। चूँकि मल्लिका के चरित्र में भावना (रोमानी) तत्व की प्रधानता है इसलिए उसके संवाद अधिकांशतः काव्यात्मक हैं, इसके विपरीत अंबिका का जीवन क्योंकि एक संघर्ष यात्रा रही है, अतः उसके संवादों में आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है :

"मल्लिका : 'मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह संबंध और सब संबंधों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है .. .. ..।'

अंबिका : 'तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म-प्रवंचना है। .. .. भावना में भावना का वरण किया है। .. .. मैं पूछती हूँ भावना में भावना का वरण क्या होता है ? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं ? .. .. भावना में भावना का वरण ! हँ ! "[22]

शब्दों, ध्वनियों एवं वाक्य रचना के सायास गठन को राकेश ने एक अभिनव रंग-युक्ति के रूप में प्रयोग किया है। न सिर्फ पात्रों के अंतर को बल्कि संदर्भों और स्थितियों के बदलाव को भी नाटककार ने अलग-अलग तरह की शब्द-योजना एवं वाक्य-रचना के माध्यम से व्यक्त किया है। रोमानी प्रसंग में भाषा लयात्मक एवं संस्कृतनिष्ठ है वहीं तनाव एवं खीज़ भरे माहौल को उभारने के लिए राकेश ने उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है एवं भाषा तल्खी से भरी हुई है। इन प्रसंगों में

अधिकांशतः प्रश्नवाचक चिन्हों, विराम-संकेतों एवं अपूर्ण वाक्य-रचना का प्रयोग किया गया है जो आपसी रिश्तों की कटुता, संदेह तथा एक-दूसरे को छीलने की मानसिकता को दर्शाता है।

राकेश की रंगसृष्टि की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है - प्रतीकात्मकता, नाट्य विडम्बना एवं वैविध्यपूर्ण एवं प्रखर बिम्बात्मकता जिनका बहुआयामी प्रयोग उन्होंने अपने सभी नाटकों में किया है। राकेश के नाटकों में प्रतीकात्मकता न सिर्फ पात्रों में हैं बल्कि दृश्यविधान, क्रिया-व्यापार एवं नाट्यस्थितियों में भी विद्यमान है। प्रतीकों के इन बहुस्तरीय प्रयोगों के कारण भाषा सतही एवं एक आयामी न होकर व्यंजनापूर्ण एवं बहुआयामी हो गई है। चारित्रिक स्तर पर कालिदास सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है तो मल्लिका कालिदास की आस्था एवं भावना को वहन करती है। विलोम दुराग्रह की आक्रामक शक्तियों का द्योतक है तो अंबिका यथार्थपरक, व्यावहारिक जीवन-दृष्टि का। प्रियंगुमंजरी, दंतुल, रंगिणी-संगिणी और अनुस्वार - अनुनासिक जैसे पात्र राजसत्ता और व्यवस्था के विविध रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं एवं सत्ताधारी, राज्याश्रयी, बुद्धिजीवी एवं राज्याधिकारी की बहुमुखी मानसिकताओं के प्रतीक हैं। लहरों के राजहंस राकेश का प्रतीक-बहुल नाटक है जो कहीं-कहीं नाटक को बोझिल भी बना देता है। प्रत्येक घटना एवं स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए लेखक ने किसी न किसी प्रतीक की योजना की है। नामकरण से लेकर चरित्र-सृष्टि, कथा-अभिप्राय, दृश्यांकन, संवाद-योजना एवं मूल-संवेदना सभी कुछ प्रतीकात्मक हैं। सुन्दरी जीवन के भोग-पक्ष या प्रवृत्ति की द्योतक है तो गौतम-बुद्ध योग-पक्ष या निवृत्ति के सूचक हैं। नन्द भोग और योग के इन दो विपरीत ध्रुवों के बीच लगातार डोलती हुई द्वन्द्व ग्रस्त मानव चेतना का प्रतीक है। श्यामांग यदि मनुष्य के अन्तर्मन का प्रतीक है तो श्वेतांग बहिर्मन का। पात्र-योजना के अलावा राकेश के नाटकों में प्रतीकात्मकता संदर्भों, स्थितियों और शब्दों से भी जुड़ी हुई है। 'आषाढ़ का एक दिन' में 'मेघ' और 'ग्रंथ' जैसे शब्द कालिदास के तथा 'ग्राम प्रांतर' और 'भूमि' जैसे शब्द मल्लिका का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार हरिण शावक कवि कालिदास की नैसर्गिक कोमल भावना एवं संवेदनशीलता का प्रतीक है। मेघ का प्रतीकत्व तो बहुअर्थगर्भी है, यह पानी से जुड़कर जीवन एवं संभावना का प्रतीक बन जाता है तो अंधकार से जुड़कर दुख और निराशा का। इसी तरह विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग भी संकेतधर्मी है। प्रथम अंक के आरंभ में अंबिका का छाज में धान फटकना एक ओर उसके कर्मनिष्ठ व्यक्तित्व का संकेत है तो दूसरी ओर उसके मन की हलचल और उद्वेलन का भी। नाटक के अंत में एक हो दीपक का जलना एक साथ कई स्थितियों का संकेत करता है - अंबिका की मृत्यु एवं मल्लिका का एकाकीपन। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ. गिरीश रस्तोगी की निम्नलिखित टिप्पणी काफी सटीक जान पड़ती है :

"आषाढ़ का एक दिन' का सारा सौंदर्य सांकेतिकता में है - यह सांकेतिकता भाषा में भी है, और क्रियाओं में, दृश्यों में भी।"[23]

'लहरों के राजहंस' का नामकरण भी प्रतीकात्मक ही है। इस संदर्भ में स्वयं नाटककार का मन्तव्य है कि 'राजहंस', नन्द और सुन्दरी के समानान्तर हैं - लहरें, उनकी परिस्थितियाँ हैं। नाटक में राजहंसों का एक जोड़ा दिखाया गया है, ठीक नन्द और सुन्दरी की तरह, ताल में खिले ओस कणों से आच्छादित कमल राजभवन के ऐश्वर्य को व्यक्त करते हैं और दूर से सुनाई देता उनका मधुर कूजन, नन्द-सुन्दरी के प्रेमालाप और हास-विलास का संकेत देता है। पत्थर फेंके जाने पर हंसों का आहत क्रंदन और उनके पंखों की तेज फड़फड़ाहट नंद और सुन्दरी के जीवन में आने वाली उथल-पुथल, हलचल, संबंधों के तनाव और उनकी छटपटाहट का पूर्व संकेत है। इसी तरह कई शब्दों का प्रयोग भी प्रतीक के रूप में किया गया है, जैसे : 'छाया' मनुष्य के अन्तर्मन का प्रतीक है। एक ओर यह अनिष्ट की भयावह छाया के रूप में चित्रित हैं तो दूसरी ओर यह मनुष्य के उस अवचेतन का प्रतीक है जिससे व्यक्ति का प्रत्यक्षतः कोई संबंध नहीं दिखाई देता। अपनी ही क्लांति से मर जाने वाले 'मृग' का प्रतीकत्व भी काफी व्यापक एवं बहुआयामी है। नन्द रूपी मृग एक ओर सुन्दरी और दूसरी ओर गौतम बुद्ध नामक दो-दो शिकारियों से भिड़ा हुआ है। उसकी जिजीविषा उसे दोनों से तो बचा लेती है परन्तु अंततः वह अपनी ही क्लांति से मृतवत स्थिति को प्राप्त होता है। इस प्रकार मृग अन्दर ही अन्दर टूटते हुए पर बाहर से लगातार संघर्षरत नन्द की द्वन्द्वात्मक, त्रिशंकु मानसिकता को भली-भाँति व्यक्त करता है। 'दर्पण' सुन्दरी के अहंकार एवं रूप-गर्व का प्रतीक है तो 'झूला' अस्थिर मन एवं द्वन्द्वग्रस्त मानसिकता का। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'लहरों के राजहंस' में प्रतीकों की भरमार है और यह नामकरण से लेकर पात्र-योजना, संवाद-योजना, दृश्यांकन एवं मूल संवेदना सभी में विद्यमान है। यह प्रतीक बहुलता नाटक को कई स्तरों पर बोझिल और दुरूह भी बना देती है। एक ही स्थिति एवं चरित्र के लिए विभिन्न प्रकार के प्रतीकों की योजना नाटक में एक केन्द्रीय नाट्य-बिम्ब को उभरने नहीं देती और इसके कारण यह नाटक प्रतीकों के भँवर में उलझ कर रह जाता है। लेकिन 'लहरों के राजहंस' की इस सीमा को नाटककार ने अपने अन्य नाटकों में अत्यंत कुशलता पूर्वक प्रयुक्त किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'आधे-अधूरे' के प्रतीक, भाषा को एक नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। 'आधे अधूरे' में कीड़ा, मशीन, बनमानुष, रबर-स्टैंप, चेहरा इत्यादि शब्दों का रचनाकार ने प्रतीकात्मक इस्तेमाल किया है। 'कीडा' यदि हिंसात्मक एवं परजीवी प्रवृत्ति का संकेत करता है तो 'मशीन' आधुनिक जीवन-स्थिति द्वारा उत्पन्न यांत्रिकता और संबंध हीनता का। 'वनमानुष' जहाँ पाशविक प्रवृत्ति को रेखांकित करता है वहाँ रबड़ स्टैंप औपचारिक अधिकार भावना का। यही नहीं इस नाटक के संदर्भों और दृश्यांकन में भी रचनाकार ने सांकेतिकता का रचनात्मक प्रयोग किया है। नाटक के प्रथम अंक में 'घर' में सामान का बिखरा होना, संबंधों के बिखराव की सूचना देता है। अशोक का कैंची से कागज़ काटते रहना एक और उसकी बेकारी को संकेतित करता है तो दूसरी ओर परिवार से लगातार टूटते उसके संबंध को भी दर्शाता है। महेन्द्रनाथ का नाटक के अंत में छड़ी के सहारे वापस लौटना, जहाँ अस्तित्ववादी दर्शन की प्रतिष्ठा करता है

वहीं दूसरी और उसकी असहाय स्थिति का भी सूचक है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रतीकात्मकता एवं सांकेतिकता के सयत्न प्रयोग से राकेश ने अपने नाटकों में नाटकीय प्रभाव को उभारा है।

रंगमंच की दृश्यात्मकता से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई प्रखर एवं वैविध्यपूर्ण बिम्बात्मकता राकेश की रंगदृष्टि की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। नाटक का प्रभाव दर्शक के अन्तर्मन पर बिंबों के माध्यम से ही अपनी अमिट छाप छोड़ता है। बिंब ही स्थायी प्रभाव के रूप में दर्शक के स्मृति-पटल पर अंकित रह जाते हैं। अतः किसी भी सशक्त नाटककार के लिए सजीव एवं सशक्त बिम्बों का चयन एवं प्रयोग नाटक को दीर्घजीवी एवं प्रभावकारी बनाने के लिए आवश्यक है।

प्रसिद्ध नाटककार इब्सन ने अपने नाटकों में सूर्योदय एवं सूर्यास्त के बिम्बों का अत्यंत कुशलतापूर्वक उपयोग किया है। धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' में भी अंधेरे के बिम्ब का प्रयोग रचनाकार ने समकालीन जीवन में ऋणात्मक शक्तियों के बढ़ते प्रभाव को रेखांकित करने के लिए कुशलतापूर्वक किया है। अंधा युग की परिणति कृष्ण की मृत्यु के साथ अँधेरें में होती है जिसका वर्णन रचनाकार ने इस प्रकार से किया है :

"बुझ गए सभी नक्षत्र, छा गया तिमिर गहन,
वह और भयंकर लगने लगा भयंकर वन।"[24]

दरअसल गहन अँधेरे के बीच में से झांकती आशा की क्षीण किरण अंधा-युग का केन्द्रीय नाट्य बिम्ब बन कर उभरता है, यह प्रखर नाट्य बिम्ब ही दर्शकों की स्मृति में नाटक को स्थायी रूप से अंकित करता है और इस नाटक को वस्तुतः 'अंधों के माध्यम से ज्योति की कथा के रूप में' हमारे सम्मुख रखता है।

मोहन राकेश के नाटकों में भी बिम्ब-विधान चरित्रों और परिस्थितियों के साथ लगातार बदलते हुए नाटक में नए अर्थ-सौंदर्य का उद्घाटन करता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में रचनाकार ने मेध-गर्जन, वर्षा और विद्युत के दृश्य-श्रव्य बिम्ब को नाटक के कथ्य और शिल्प का अनिवार्य अंग बनाकर प्रस्तुत किया है। ये बिम्ब महज़ बिम्ब सृष्टि या चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं बल्कि परिस्थितियों के प्रभाव को गहनता और व्यापकता प्रदान करते हैं। आरंभ में ये मल्लिका के अभिनव सौंदर्यानुभव और अनुभूतिमय प्रेम के लिए रोमानी वातावरण की सृष्टि करते है। कालिदास की विदाई से पहले अंधकार और प्रकाश की लुकाछिपी का बिम्ब मल्लिका एवं कालिदास के अन्तर्द्वन्द्व का संकेत देते हैं और बाद में यही बिम्ब मल्लिका की पीड़ा और आँसुओं को संवेदनशीलता के साथ उद्घाटित करते हैं। प्रकृति के इन उदात्त तत्वों का प्रयोग परिस्थितियों की विडम्बना और विषमता को रेखांकित करने के लिए किया गया है। यथा :

"वर्षा और मेघ गर्जन का शब्द। परदा उठने पर वही प्रकोष्ठ। एक दीपक जल रहा है। प्रकोष्ठ की स्थिति में पहले से बहुत अंतर दिखाई देता है। सब कुछ जर्जर और अस्त-व्यस्त है। कुंभ केवल एक है और उसका भी कोना टूटा है। आसन अपने

स्थान से हटा है और उस पर भी बाघ-छाल नहीं है। दीवारों पर से स्वस्तिक आदि के चिन्ह लगभग बुझ चुके हैं।"[25]

वर्षा, मेघ-गर्जन और दीपक के माध्यम से जिस प्रकार के प्रभावशाली और बहुआयामी बिम्ब का सृजन राकेश ने परिस्थितियों की विषमता को उद्घाटित करने के लिए किया है वह सहसा ही निराला की प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्ति पूजा' की याद दिलाता है। अंधेरे और प्रकाश की लुपा-छिपी के बिम्ब के माध्यम से निराला ने जिस वातावरण की सृष्टि कविता के माध्यम से की है वही काम राकेश ने गद्य के माध्यम से पूरा किया है।

'लहरों के राजहंस' नाटक की रचना के मूल में ही दीपाधार एवं पुरूष तथा नारी मूर्ति का बिम्ब था। स्वयं रचनाकार के शब्दों में :

"बहुत पहले कैसे एक बिम्ब मन में था। दो दीपाधार। एक ऊँचा, शिखर पर पुरूष-मूर्ति -बाँहें फैली हुई तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुई। दूसरा छोटा, शिखर पर नारी-मूर्ति- बांहे सिमटी हुई तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुई।

पहले-पहल शायद अश्वघोष का 'सौन्दरनन्द' पढ़ते हुए यह बिम्ब मन में बनने लगा था। क्यों और कैसे, यह कह सकना असम्भव है। उस काव्य का अपना बिम्ब तरंगों पर तैरते राजहंस का है, या अनिश्चय में उठे - रूके एक पैर का। परन्तु मेरे लिए वह सब कुछ धुँधला दृश्य था। स्पष्ट थे दो दीपाधार जो 'सौन्दरनन्द' में नहीं थे।"[26]

दरअसल 'लहरों के राजहंस' के प्रथम अंक के प्रारंभ में वर्णित ऐतिहासिक एवं राजसी वातावरण और झूला, मत्स्याकार आसन, मदिरा-कोष्ठ, पुरूष और नारी, मूर्ति वाले दीपाधार, गवाक्ष इत्यादि मिलकर एक ऐसे भव्य एवं व्यापक बिम्ब की सृष्टि करते हैं जो दर्शक को आत्ममुग्ध कर देता है। इसके साथ ही अँधेरे में नेपथ्य में सुनाई देता, 'धम्मं शरणं गच्छामि' का स्वर तथा मंच पर रात के समय का आभास देती प्रकाश योजना अद्‌भुत प्रभाव डालती है एवं नाटकीय सौंदर्य की अभिवृद्धि करने में सहायक सिद्ध होती है।

इसी प्रकार अपने अंतिम अपूर्ण नाटक 'पैर तले की ज़मीन' के प्रथम अंक के प्रारंभ में भी नाटककार ने भटकती रोशनी, बिखरे हुए ताश के पत्ते एवं झूठी प्लेटों के बिम्ब का प्रभावकारी सृजन किया है। इस नाटक में पुल का टूटना ही नाटक की गति को निर्धारित करता है जिसको नाटककार ने बिम्ब के माध्यम से अत्यंत सफलतापूर्वक चित्रित किया है :

"पुल की कुछ कडियों के एक-साथ टूटने की आवाज़। इसके बाद, अनुवर्तन के अन्त तक, बीच-बीच में एक-एक कड़ी के टूटने और पानी में बह जाने की आवाज़ सुनायी देती रहती है।"[27]

अतः स्पष्ट है कि मोहन राकेश के नाटकों में बिम्ब महज चमत्कारी रंग-युक्ति नहीं है बल्कि यह नाटक की मूल संवेदना को दर्शकों तक संप्रेषित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। बिम्बों के प्रभावी नाटकीय प्रयोग द्वारा रचनाकार ने शब्दों की अपूर्व मितव्ययता का निर्वाह किया है और भाषा को सांकेतिकता एवं गतिशीलता प्रदान की है। राकेश के नाटकों में सिर्फ वे ही बिम्ब प्रभावकारी नहीं बन पाये हैं जो पारंपरिक हैं, एवं रचनाकार के अतिरिक्त मोह की वजह से दोहराए गए हैं। लहरों के राजहंस में घायल हिरन, व्याघ्र से युद्ध और दर्पण का टूटना इत्यादि बिम्ब भाववस्तु का एक नया आयाम प्रस्तुत करते हैं लेकिन राजहंसों के बिम्ब की पुनरावृत्ति नाटकीय एकांगता को तोड़ता है।

कुल मिलाकर प्रतीक और बिम्बों के माध्यम से राकेश ने नाट्य-भाषा को सांकेतिकता और प्रभु विष्णुता प्रदान की है जो हिन्दी नाटकीय गद्य के लिए अभूतपूर्व है।

राकेश के नाटकों में व्यंग्य, नाट्य-विडंबना एवं विसदृशता (contrast) का कई रूपों और स्तरों पर अत्यंत कलात्मक प्रयोग मिलता है। 'आधे-अधूरे' में महेन्द्रनाथ और सावित्री के संवाद तीखे व्यंग्य से भरे होने के कारण पारिवारिक विघटन और संबंधों में बढ़ती दरार को प्रामाणिक रूप से प्रकट करते हैं :

"स्त्री : वैसे हज़ार बार कहोगे कि लड़के की नौकरी के लिए किसी से बात क्यों नहीं करती। और जब मैं मौका निकालती हूँ उसके लिए, तो .. ..।

पुरूष एक : हाँ .. .. सिंधानिया तो लगवा ही देगा जरूर । इसलिए बेचारा आता है यहाँ चलकर।

स्त्री : शुक्र नहीं मानते कि इतना बड़ा आदमी, सिर्फ एक बार कहने भर से।

पुरूष एक : मैं नहीं शुक्र मानता ? जब-जब किसी नए आदमी का आना-जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा शुक्र मानता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था। फिर मनोज आने लगा था।"[28]

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि व्यंग-युक्त नाट्यभाषा कथ्य को अधिक प्रभावशाली एवं जीवंत रूप में प्रस्तुत करती है। व्यंग के इसी तरह के अनेक प्रसंग 'आषाढ़ का एक दिन' में विलोम और मातुल की संवाद योजना में भी हैं, जिनके माध्यम से रचनाकार नाट्यभाषा को अर्थगर्भित एवं व्यंजनापूर्ण बनाता है। मातुल का यह संवाद व्यंगयुक्त होने के कारण उसकी पीड़ा और यातना को और भी सार्थक ढंग से प्रस्तुत करता है :

"मातुल : इन चिकने शिला-खण्डों से तो वह मिट्टी ही अच्छी थी जो पैर को पकड़ती तो थी। मैं तो अब घर के रहते बेघर हो रहा हूँ।"[29]

इस उद्धरण में राकेश ने राजसत्ता की क्रूरता और इसके बीच फँसे हुए सामान्य मनुष्य की विडम्बना को व्यंगयुक्त भाषा के माध्यम से उजागर किया है।

इस प्रकार संदर्भों, मनःस्थितियों एवं संवादों के स्तर पर नाटककार ने विडम्बना का अत्यंत रचनात्मक प्रयोग किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' के तीसरे अंक में कालिदास का यह संवाद इस दृष्टि से उल्लेखनीय है :

"कालिदास : और कि वही चेतना है जिसमें कम्पन होता है। वही हृदय है जिसमें आवेग जागता है। परन्तु .. .. ..। "[30]

एक छोटे-से 'परन्तु' के माध्यम से राकेश ने मानवीय अभिलाषा के विरूद्ध समय की शक्ति और परिस्थितियों के मुकाबले संबंधों की विडम्बना का अत्यंत सटीक चित्रण किया है। आश्रय देने के नाम पर मातुल की टाँग एवं कालिदास के मन एवं व्यक्तित्व को तोड़ देने वाले राज्य की विडम्बना भी स्वतः स्पष्ट है। इसी प्रकार नाटक के दूसरे अंक के आरंभ में राजकर्मचारियों के संबंध में चल रहे मल्लिका और निक्षेप का वार्तालाप भी परिस्थिति एवं चरित्र की विडम्बना को स्पष्ट करता है :

"निक्षेप : लगता है आज फिर कुछ लोग बाहर से आये हैं।

मल्लिका : कौन लोग ?

निक्षेप : सम्भवतः राज्य के कर्मचारी हैं। दो वैसी ही आकृतियाँ मैंने देखी हैं, जैसी तब देखी थीं, जब आचार्य कालिदास को लेने आये थे।

मल्लिका : वैसी आकृतियाँ ?

जानते हैं, माँ इस सम्बन्ध में क्या कहती है ? कहती हैं कि जब भी ये आकृतियाँ दिखाई देती हैं, कोई न कोई अनिष्ट होता है। कभी युद्ध, कभी महामारी .. .. परन्तु पिछली बार तो ऐसा कुछ नहीं हुआ।

निक्षेप : नहीं हुआ ? "[31]

उपरोक्त उद्धरण में निक्षेप का एक सामान्य-सा प्रश्न 'नहीं हुआ ? ' मल्लिका के जीवन के आन्तरिक सत्य और परिस्थिति की विडम्बना को पूरी गहनता से व्यक्त करता है। स्पष्ट है कि शब्दों, संवादों, संदर्भों और स्थितियों की यह विडम्बना समन्वित होकर अंततः चरित्रों और संबंधों की व्यापक विडम्बना का रूप ले लेती है। नाट्य - विडम्बना का बहुस्तरीय प्रयोग आधे-अधूरे एवं लहरों के राजहंस में भी मिलता है। 'लहरों के राजहंस' में अपनी मुक्ति की खोज में नन्द सुन्दरी के आकर्षक मोहपाश को त्यागकर तो चला जाता है लेकिन भिक्षुत्व उसके समस्त प्रश्नों का उत्तर नहीं बन पाता है और वह प्रत्यावर्तन को विवश होता है। नन्द के लौटने की निरंतर प्रतीक्षा करती सुन्दरी का नन्द को अस्वीकार करना एवं नन्द का वापस लौटना दोनों ही स्थितियाँ संबंधों और समय की विडम्बना को दर्शाती है। इसी प्रकार 'आधे-अधूरे' में सावित्री एवं महेन्द्रनाथ का 'घर' छोड़ना और पुनः वापस आने के लिए विवश होना आधुनिक मनुष्य की विकल्पहीनता और परिस्थिति के समक्ष मनुष्य की असहायता की विडम्बना को रेखांकित करता है।

मोहन राकेश के नाटकों का परिवेश चाहे जो भी हो उसका केन्द्रीय सरोकार आधुनिक मनुष्य के तनाव एवं अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करना ही रहा है। उनके नाटक रस और आनन्द की सृष्टि करने वाले पारंपरिक नाटक नहीं है बल्कि द्वन्द्व और त्रासदी पर आधारित आधुनिक यथार्थवादी नाटक हैं। इन नाटकों में द्वन्द्व, तनाव और संघर्ष की स्थिति, पात्र, परिस्थिति, रंग-संकेत आदि सभी स्तरों पर विद्यमान हैं, इन नाटकों में रोमानियत और यथार्थ, राजसत्ता और सृजनात्मकता, व्यक्ति-स्वातंत्र्य और राज्याश्रय, भावना और कर्म, प्रेम और विवाह, एवं मानवीय अभिलाषा तथा नियति जैसे संघर्ष के विविध आयाम दर्शाए गए हैं। अपने नाटकों में राकेश ने आधुनिक मनुष्य के द्वन्द्व और तनाव को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त करने के लिए वैषम्य (contrast) जैसी रंग-परिकल्पना का सहारा लिया है। यह वैषम्य विविध पात्रों के स्वभाव, व्यवहार, हाव-भाव, गति-विधान एवं उनके संवादों सभी में मुखर रूप से व्यक्त हुआ है। इस संदर्भ में नाट्य समीक्षक श्री एन.सी. ठाकुर की यह टिप्पणी राकेश के रंग-शिल्प के विषय में अत्यन्त सटीक जान पड़ती है :

"उन्होंने कुशलतापूर्वक पात्रों, उनके हाव-भाव और गतिविधियों, उनकी वेशभूषा, भाषा और लय, चिन्तन और व्यवहार को विसदृश परिस्थितियों के रूप में प्रदर्शित किया है। इतना ही नहीं उन्होंने नाटक के विभिन्न अंकों के वातावरण एवं उसके प्रभाव, तथा दृश्यबंध में भी वैषम्य प्रदर्शित किया है। उन्होंने 'वैषम्य' का उपयोग सिर्फ प्रयोग-प्रदर्शन के लिए नहीं किया अपितु नाटकीय तनाव एवं रचना के नाटकीय प्रभाव की अभिवृद्धि के लिए किया।"[32]

उपरोक्त वक्तव्य यह स्पष्ट कर देता है कि राकेश ने वैषम्य का उपयोग एक अभिनव रंग-युक्ति के रूप में किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' के प्रारंभ में इसे मेघ और बिजली की कौंध जैसे बिम्ब के द्वारा और फिर विरोधी वृत्तियों एवं दृष्टिकोणों वाले चरित्रों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं के द्वारा व्यक्त किया गया है। यही नहीं नाटक में यह तनाव कालिदास और विलोम, अंबिका और मल्लिका, अंबिका और कालिदास, मल्लिका और विलोम, दन्तुल और कालिदास एवं निक्षेप और मातुल के बीच उभरता है। दूसरे अंक में मल्लिका और प्रियंगुमंजरी का वैषम्य इस तनाव को गहराता है और नाटक के अंत में परिस्थितियों की विडम्बना के बीच घिरे कालिदास, विलोम और मल्लिका के जीवन की त्रासदी को उभारता है। इसी प्रकार 'लहरों के राजहंस' में विविध पात्रों - नन्द एवं सुन्दरी, सुन्दरी एवं बुद्ध, अलका एवं सुन्दरी, नन्द तथा बुद्ध, एवं उनकी मनःस्थितियों के तथा हाव-भाव में व्यक्त वैषम्य के माध्यम से रचनाकार ने नाटकीय तनाव एवं द्वन्द्व को प्रभावशाली तरीके से व्यक्त किया है। इसी प्रकार 'आधे-अधूरे' में नाटककार ने विविध पात्रों - महेन्द्रनाथ, सावित्री, सिंघानिया, जुनेजा, जगमोहन आदि के चारित्रिक वैषम्य तथा उनकी जीवनदृष्टि, वस्त्र-विन्यास, हाव-भाव एवं भाषा के वैपरीत्य के माध्यम से नाटकीय विडम्बना को साकार कर दिया है। वस्तुतः राकेश के नाटकों में बाहरी क्रियाओं और संघर्ष की

बजाए आंतरिक प्रतिक्रिया और द्वन्द्व की प्रमुखता है और इसको मूर्त रूप देने में 'वैषम्य' जैसी रंग-युक्ति अत्यंत कारगर सिद्ध हुई है।

(iv) पात्र-योजना :

मोहन राकेश के नाटकों का एक महत्वपूर्ण आयाम है संयमित और सुचिन्तित पात्र-योजना जो उनके नाटकों की व्यापक सफलता का भी बुनियादी कारण है। नाटकों के मुख्य पात्र ही नहीं बल्कि अपेक्षाकृत गौण पात्रों की परिकल्पना और उनका चित्रण भी नाटककार की गहरी सोच एवं शिल्प-कुशलता का परिचय देता है। राकेश के सभी नाटकों में नाटककार की अनिच्छा के बावजूद स्त्री-पात्र ही केन्द्रीय भूमिका ग्रहण कर लेते हैं। अपने नाटकों में राकेश ने कालिदास, नन्द और महेन्द्रनाथ को मुख्य चरित्र बनाने का प्रयास किया है परन्तु अंततः मल्लिका, सुन्दरी और सावित्री ही केन्द्रीय पात्र बनकर उभरती हैं। इसका मुख्य कारण है इन नारी-पात्रों की निजता, स्पंदनशीलता एवं संश्लिष्टता। जीवन की कटुता एवं अन्तर्द्वन्द्व का सामना करते हुए भी इन पात्रों में एक अदम्य जिजीविषा देखने को मिलती है जिसके कारण ये चरित्र बहुआयामी एवं जीवंत हो उठे हैं। ये जीवन से भागती नहीं बल्कि जीवन को पूरी ईमानदारी से जीती है। सुन्दरी और सावित्री तो जीवन से संघर्ष करती ही हैं 'भावना में भावना का वरण' करने वाली मल्लिका भी कालिदास को यह सूचना निर्द्वन्द्व होकर देती है कि उसकी बच्ची ही उसका वर्तमान है। इसी प्रकार अंबिका के चरित्र में एक साथ ही रचनाकार ने व्यावहारिकता, कर्मठता, संघर्षशीलता एवं स्नेहमयी माँ का समन्वित रूप दिखाया है। पुरूष पात्रों में भी राकेश ने सार्वभौमिक समानता के बावजूद उनके चारित्रिक अन्तर को सूक्ष्मता के साथ दर्शाया है। कालिदास, नन्द और महेन्द्रनाथ, तीनों हो अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त, अस्थिर और जीवन की वास्तविकता के चरम साक्षात्कार से कतराने वाले पात्र हैं। कालिदास संवेदनशील है किन्तु राजसत्ता के हाथों उसकी रचनाधर्मिता का क्षय हुआ है। वह भावना के स्तर पर जीता है और जीवन की क्रूर वास्तविकताओं से पलायन करता है। नन्द एक पराक्रमी व्यक्ति हैं जो सुन्दरी एवं बुद्ध के आकर्षण के ध्रुवीय छोरों के बीच त्रिशंकुवत डोलता रहता है और अंत में इन दोनों से असंतुष्ट होकर अपनी मुक्ति की तलाश में स्वयं निकल पड़ता है। महेन्द्रनाथ निर्णय लेने में असमर्थ, जीवन से हारा हुआ परजीवी व्यक्ति है जो स्वयं को नियति के हवाले कर चुका है। अपने आप से संतुष्ट फिर भी आशंकित सिंघानिया, अपनी सुविधा से जीने का दर्शन लिए जगमोहन, चेहरे पर बुजुर्गियत के एहसास के साथ काईयाँपन लिए जुनेजा और जिन्दगी से लड़ाई हार चुकनेवाले महेन्द्रनाथ में मूलभूत समानता होने के बावजूद चरित्रगत विभिन्नताएँ भी हैं जिसका रेखांकन नाटककार ने सूक्ष्म संकेतों के माध्यम से किया है। लेकिन मोहन राकेश की चरित्र-सृष्टि का सबसे महत्वपूर्ण रूप अपेक्षाकृत गौण पात्रों का

चित्रांकन है - विलोम, दन्तुल, मातुल, निक्षेप, अशोक, श्वेतांग, श्यामांग, अनुस्वार, अनुनासिक, अलका, रंगिणी, संगिणी, किन्नी आदि सभी पात्र मानव व्यवहार के विविध रंग-रूपों को प्रस्तुत करते हैं। विलोम तो एक अनुपम नाटकीय चरित्र है जिसके संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है :

"मोहन राकेश की गहरी सूझ-बूझ और शिल्प कुशलता 'आषाढ़ का एक दिन' के सहायक और अपेक्षाकृत गौण पात्रों की परिकल्पना और रूपायन में दिखाई पड़ती है। कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी विलोम वास्तव में उसका विलोम तो है ही, उससे अधिक जीवंत और नाटकीय दृष्टि से अधिक विकसित पात्र भी है। नाटक के कार्य-व्यापार में लगभग विस्फोटक तीव्रता और करूणा उसीकी उपस्थिति से पैदा होती है। उसे तथाकथित खलनायक कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। विलोम के बिना 'आषाढ़ का एक दिन' और भी भावुकता पूर्ण और बेहद शिथिल नाटक रह जाता । उसके तर्कों में ही नहीं, उसकी पूरी जीवनदृष्टि में एक ऐसी अकाट्यता और अनिवार्यता है कि उसकी गिनती हिन्दी नाटक के कुछ अविस्मरणीय पुरूष पात्रों में होगी।"[33]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि श्यामांग जैसे एक-दो कमज़ोर चरित्रों को छोड़कर राकेश के नाटकों के अधिकांश पात्रों में एक निजता एवं व्यक्तिगत वैशिष्ट्य देखने को मिलता है। यद्यपि आधे-अधूरे में एक ही अभिनेता से पाँच पुरूष भूमिकाएँ कराने की रंग-युक्ति के द्वारा रचनाकार ने अपने चरित्रों को 'आम' और उनके अनुभव को सामान्य बनाकर प्रस्तुत करने की कोशिश की है लेकिन इन चरित्रों में बुनियादी समानता के बावजूद उनका व्यक्तिगत वैशिष्ट्य हमारे मानस पटल पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है।

राकेश की चरित्र-सृष्टि में श्यामांग अवश्य ही एक ऐसा पात्र है जो नाटक की पूरी अन्विति में फिट नहीं बैठता है एवं नाटकीय क्रिया-व्यापार को शिथिल कर देता है लेकिन इस तरह के अपवादों को छोड़ दें तो राकेश के अधिकांश चरित्र नाटकीय गठन का अनिवार्य अंग बनकर उभरते हैं एवं नाटक में क्रिया-व्यापार को गति प्रदान करने का काम करते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अपने नाटकों में राकेश ने नायक और खलनायक की परंपरागत धारणा को तोड़कर ऐसे जीवन्त चरित्रों की सृष्टि की है जो जीवन की परिस्थितियों से लगातार जूझते हैं और इस क्रम में कभी नायक तो कभी खलनायक प्रतीत होते हैं। वस्तुतः राकेश के अधिकांश चरित्र समकालीन जीवन, परिस्थितियों के अनुरूप संश्लिष्ट चरित्र है जो एक साथ ही सत् - असत् एवं अच्छाई - बुराई का समन्वित रूप प्रस्तुत करते हैं।

अपने नाटकों में राकेश ने प्रवेश और प्रस्थान अत्यंत नाटकीय एवं दिलचस्प ढंग से नियोजित किया है जो आकस्मिक होकर भी पूर्णतः स्वाभाविक है। अधिकांश स्थलों पर महत्वपूर्ण पात्रों के प्रवेश से पहले उनके नाम और चरित्र का संकेत राकेश ने कुशलतापूर्वक अपने दर्शकों को दे दिया है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के प्रथम संवाद में ही मल्लिका 'माँ' संबोधन द्वारा अंबिका से अपने संबंध और अपनी मानसिकता को स्पष्ट कर देती है। कालिदास को लेकर माँ-बेटी के लम्बे वाद-विवाद

के बाद उसका प्रवेश कराया गया है। इसी प्रकार विलोम के प्रवेश से पूर्व मल्लिका के इस संवाद : "यह तुम्हारी नहीं विलोम की भाषा है।"[34] के माध्यम से उसके चरित्र का पूर्वाभास नाटककार हमें करा देता है। 'आषाढ़ का एक दिन' के दूसरे अंक में प्रियंगुमंजरी से कालिदास के विवाह - प्रसंग का संकेत भी निक्षेप के संवाद के माध्यम से पहले ही दिया जाता है और अनुस्वार-अनुनासिक उसके आगमन की पूर्व सूचना दे देते हैं। 'लहरों के राजहंस' में भी श्वेतांग के इस संवाद : "जल्दी से दीपक जलाओ, देवि सुन्दरी अभी इधर आनेवाली है। आकर देखेंगी दीपक नहीं जले, तो बिगड़ उठेंगी।"[35] के द्वारा सुन्दरी के आगमन और उसके व्यक्तित्व की पूर्व-सूचना राकेश कुशलता के साथ दे देते हैं। इसी प्रकार नाटक के तीसरे अंक में नंद भिक्षु आनंद के आगमन की पूर्व-सूचना यह कहकर दे देता है कि, "एक अभ्यागत मेरे साथ है, तथा आ जाओ भिक्षु।"[36] 'आधे-अधूरे' नाटक में भी सावित्री के प्रथम संवाद के द्वारा ही परिवार के कई सदस्यों जैसे महेन्द्रनाथ, अशोक, किन्नी के चरित्र का पूर्वाभास करा दिया जाता हैं। इसी प्रकार सावित्री अपने इस संवाद के द्वारा महेन्द्रनाथ के आगमन एवं उसके निकम्मेपन का संकेत सफलतापूर्वक दे देती है - "बड़े साहब वहाँ अपनी कारगुजारी कर गए हैं। .. .. दिन भर घर पर रहकर आदमी और कुछ नहीं, तो अपने कपड़े तो ठिकाने पर रख ही सकता है।"[37]

(v) नाट्य-शिल्प :

मोहन राकेश के नाटकों में परंपरागत नाटकों वाली अवस्थाएँ आरंभ, विकास एवं चरमोत्कर्ष देखने को नहीं मिलता। न ही इन नाटकों में भारी-भरकम महान और विराट घटनाएँ हैं बल्कि बाह्य ब्यौरों की अपेक्षा पात्रों के भीतर की सतहों और उनकी संवेदनाओं की टकराहट को आंतरिक विस्फोट के रूप में तीव्रता से प्रस्तुत किया गया है। इस अर्थ में राकेश के सभी नाटक नाट्यरूप की दृष्टि से सुगठित यथार्थवादी नाटक हैं जिसमें नाटककार ने वृत्ताकार शिल्प-विधान का प्रयोग किया है। नाटक आरंभ से चलकर अंत में भी उसी आरंभ पर पुनः पहुँच जाता है। राकेश के नाटकों के शिल्पविधान की यह अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता है जो उन्हें पारंपरिक नाटककारों से अलग करती है।

मोहन राकेश के अधिकांश नाटकों में कार्य-व्यापार को एक सार्थक अनुभूति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कार्य-व्यापार के संयोजन में गति पर्याप्त तीव्र ही नहीं है अपितु विभिन्न पात्रों और उनकी स्थितियों को इस प्रकार आमने-सामने रखा गया है कि वे न केवल नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करते हैं बल्कि उसकी परिणति को यथा संभव अनिवार्य और विश्वसनीय भी बनाते हैं। फिर भी नाटक के तीसरे अंक में पात्रों के स्वगत भाषण और लम्बे एकालाप नाटकीय तीव्रता को शिथिल करते हैं। उनके सभी नाटकों के अंतिम अंश सूचना उद्घाटन के रूप में होने के कारण नाट्यानुभव की

प्रत्यक्ष अनुभूति में बाधा उपस्थित करते हैं एवं पात्रों के चरम साक्षात्कार तथा संघर्ष को नहीं दर्शाते हैं। चरम बिंदु के इतने समीप पहुँचकर सूचना एवं वक्तव्य द्वारा स्थिति का उद्घाटन निश्चय ही अच्छी नाटकीय युक्ति नहीं कही जा सकती, विशेषकर तब जबकि शेष नाटक में राकेश कार्य-व्यापार के द्वारा ही स्थितियों का उद्घाटन करते रहे हैं।

मोहन राकेश के नाटकों की एक अन्य विशेषता है भाषा और शारीरिक क्रिया का गहरा संबंध। पात्र, मनःस्थिति और दृष्टि बदलने के साथ-साथ भाषा और उसकी लय भी अपने आप परिवर्तित होती जाती है। गहरे तनाव एवं द्वन्द्व के प्रसंगों में उनके पात्रों की भाषा अधूरी एवं प्रश्नवाचक है जबकि प्रणय-प्रसंग और रोमांटिक क्षणों में भाषा पूर्ण एवं काव्यात्मक है। उनके नाटकों में भाषा और क्रिया का गहरा संबंध भाषागत सीमा का अतिक्रमण करता है और इस प्रकार उनका अर्थ-विस्तार होता जाता है। श्यामांग की पत्तियों को तोड़ने, उलझाने की हरकत सामान्य शब्दों से कहीं ज्यादा अर्थवान है। इस क्रिया में मुद्रा और संवाद दोनों आपस में समाहित हैं जो श्यामांग के व्यक्तित्व की उलझन और उसके आंतरिक द्वन्द्व को पूरी तरह साकार कर देते हैं। इसी प्रकार सुन्दरी का मदिरा-कोष्ठ तक जाना, चशक में मदिरा ढालना, मदिरा पीना इत्यादि क्रियाएँ भाषा से जुड़ी ही नहीं है बल्कि अपने आप में स्वयं भाषा है। इसी प्रकार 'आषाढ़ का एक दिन' में विलोम का बार-बार हँसना, कालिदास को प्रश्नवाचक नेत्रों से देखना द्वार की ओर प्रस्थान करना, पुनः कालिदास और मल्लिका को अर्थपूर्ण दृष्टि से देखना और द्वार से बाहर निकल जाना जैसी क्रियाएँ, न केवल इन चरित्रों के आपसी संबंध-विधान को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है बल्कि नाटकीय द्वन्द्व, तनाव एवं विडम्बना को भी पूरी तरह उजागर कर देती है। 'आधे-अधूरे' में भी अनेक क्रियाओं के माध्यम से समसामयिक जीवन की नीरसता, परिस्थिति के सामने व्यक्ति की विवशता एवं नाटक में अभिव्यक्त तनाव को मूर्त करने का प्रयास किया गया है।

जुनेजा का फाइलें झाड़ना, अशोक का कैंची से कागज़ काटते रहना, सावित्री का तुतलाकर बोलना, अशोक का पैंट में कीड़ा घुसने का नाटक करना इत्यादि सिर्फ घिसी-पिटी रंगमंचीय युक्ति नहीं है जैसाकि प्रसिद्ध समीक्षक श्री नेमीचन्द्र जैन ने कहा है । इस संदर्भ में श्री जैन की इस टिप्पणी से सहमत होना कठिन है कि इस तरह की घिसी-पिटी रंगमंचीय युक्तियों के द्वारा नाटककार ने अभिनेता की हर गति और रंगचर्या को निर्धारित कर देना चाहा है। इसके विपरीत इन क्रियाओं के माध्यम से नाटककार ने अत्यंत सांकेतिक तरीके से विभिन्न पात्रों की मनोदशा, उसकी प्रतिक्रिया एवं नाटकीय तनाव को दृश्य-बिंबों के माध्यम से प्रस्तुत कर दिया है। जुनेजा का फाइलें झाड़ना, अस्थिर एवं उत्तेजित मनोदशा की व्यंजना करता है तो अशोक का कैंची से कागज़ काटते रहना उसकी बेकारी और आक्रोश को व्यक्त करता है। सावित्री का तुतलाकर बोलना उसकी खीज़ और बौखलाहट को दर्शाता है तो किन्नी का कुंडी बंद कर लेना संबंध हीनता, चरम आक्रोश और खुद में सिमटते

जाने की स्थिति को संकेतित करता है। अतः स्पष्ट है कि क्रियाओं और शब्दों के रचनात्मक अन्तर्गठन के माध्यम से राकेश ने नाट्यभाषा को नया अर्थ-सौंदर्य प्रदान किया है। पाश्चात्य निर्देशक क्रेग ने इसी अर्थ में नाटक की भाषा को कार्य कहा है। राकेश के नाटकों की इस विशेषता को गिरीश रस्तोगी ने इन शब्दों में रेखांकित किया है।

"हिन्दी के अधिकांश नाटकों में शब्द अलग मिलेंगे, शारीरिक क्रिया अलग। या इससे अधिक कुछ हुआ भी तो यह कि शब्द के अनुरूप ही क्रिया होगी। राकेश की नाट्य-भाषा इस जड़ता को, अस्वाभाविकता को नकारती है। यहाँ शब्द स्वयं क्रिया का काम करते हैं और क्रिया की भाषा को ढालते चलते हैं। अर्थात् भाषा और क्रिया का नियोजन, आन्तरिक गठन पहली बार मोहन राकेश में मिलता है।"[38]

(vi) रंग संकेत :

रंगमंच के साथ प्रत्यक्ष अन्तरंग एवं जीवंत संबंध होने के कारण राकेश के नाटकों के आलेख मंच तकनीक और व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः संपूर्ण और परिपक्व होते हैं। इसी कारण उनके नाटकों में विस्तृत रंग-निर्देशों की योजना की गई है। यद्यपि अंतिम दिनों में राकेश नाटककार द्वारा विस्तृत रंग-निर्देश दिए जाने के पक्ष में नहीं रहे थे और वह निर्देशक और विशेषकर अभिनेता को इस दृष्टि में स्वतंत्रता देने के समर्थक हो गए थे। इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' के प्रथम और संशोधित संस्करण में रंग-निर्देशों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यंत रोचक तथ्य सामने लाता है। नए संस्करण में दृश्य-बंध के निर्देशों में जहाँ नाटककार ने मामूली सी वृद्धि की है वहीं प्रकाश, ध्वनि और अभिनय संबंधी निर्देशों को काफी कम कर दिया गया है। यही नहीं पात्रों के वस्त्र-विन्यास और उसकी रूप कल्पना का नए संस्करण में कहीं उल्लेख नहीं है और उन्हें निर्देशकों की कल्पना शक्ति और समझ पर छोड़ दिया गया है। अपने नाटकों में राकेश ने दृश्य-बंध, मंच-सज्जा; प्रकाश एवं ध्वनि व्यवस्था और वस्त्र विन्यास सभी तरह के रंग-निर्देशों को अत्यंत कुशलतापूर्वक नियोजित किया है। उनके अभिनय संबंधी रंग-संकेत के प्रभावपूर्ण होने का महत्वपूर्ण उदाहरण उस समय देखने को मिलता है, जब सुन्दरी, अलका-श्यामांग के परस्पर संबंध पर विचार करती है। अन्तर्द्वन्द्व के क्षणों में नाटककार सुन्दरी को झूले के पास रूकने और निर्णय के क्षणों में झूले के पास से हटने का निर्देश देकर अपनी रंगमंच संबंधी गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय देता है। इसी प्रकार 'आधे-अधूरे' में अनेक स्थानों पर पात्रों का दराज़ को बार-बार खोलना, बन्द करना, तथा महेन्द्रनाथ का कुर्सी को झुलाना पात्रों की मन की उलझन और उनकी असमंजस की स्थिति को रेखांकित करता है।

इसी प्रकार नाटककार द्वारा दिए गए दृश्यबंध संबंधी निर्देश न केवल पात्रों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का बोध कराते हैं बल्कि उनकी बदलती हुई मनःस्थितियों का भी संकेत देते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' के पहले अंक में जो वस्त्र वर्षा में भीगकर सुख देते हैं वही कुछ वर्षों के अनन्तर दूसरे अंक में दुख देकर सूख रहे हैं। कुछ और बरसों के बाद तीसरे अंक में वस्त्र सूख तो अवश्य रहे हैं लेकिन अब वह 'फटे और मैले' हैं। इस प्रकार दृश्य-बंध और मंच उपकरणों के माध्यम से रचनाकार ने न केवल देश-काल और सौंदर्यबोध का परिचय दिया है बल्कि विविध चरित्रों की शारीरिक और मानसिक स्थिति को भी अभिव्यक्त कर दिया है। इस संदर्भ में श्री जगदीश शर्मा का यह वक्तव्य अत्यंत महत्वपूर्ण है :

"नाटक में घटनास्थल मल्लिका का घर है। उसके घर की बदलती हुई स्थिति ही तीन अंकों के विभाजन को सार्थक बनाती है। इस प्रकार एक ही स्थान पर समय की गति के साथ बदलता हुआ परिवेश समय के हाथों उत्पीडित मानव-नियति की कथा कहता है।"[39]

इसी प्रकार 'आषाढ़ का एक दिन' में अनेक वैविध्यपूर्ण एवं प्रखर बिम्बों के माध्यम से राकेश ने दृश्यबंध का नियोजन किया है, जो अपने आप में प्रभावशाली एवं सांकेतिक हैं। डॉ.गोविन्द चातक के अनुसार :

"आषाढ़ के झरते मेघ, सुखाने के लिए फैलाए गीले कपड़े, अंबिका की ठोस और मल्लिका की तरल भाव-मुद्राएँ, अनुस्वार और अनुनासिक की बनावटी भंगिमाएँ, ग्रामवासियों का भोला देहातीपन और राजपुरूषों के गर्वपूर्ण चेहरे और अंततः दीपक की लौ में डूबा सब चेहरों में मल्लिका का एक चेहरा ऐसे दृश्यबिंब प्रस्तुत करता है जो रंगमंच की कविता रचता है।"[40]

'लहरों के राजहंस' के दूसरे अंक में भी दृश्य-बंध के उपकरणों की अव्यवस्था के माध्यम से नाटककार ने कामोत्सव की असफलता से उत्पन्न सुन्दरी की निराशा और खीज की स्थिति को इस रूप में अभिव्यक्त किया है :

"चबूतरे पर बिछावन अस्तव्यस्त है, तकिए अपने स्थानों से हटकर इधर-उधर पड़े हैं। चबूतरे पर और आस-पास कुछ फूल और पुष्पमालाएँ बिखरी हैं। मत्स्याकार आसन पर एक तकिया तिरछा पड़ा है। मदिराकोष्ठ पर मदिरापात्र औंधा पड़ा है जिससे एक-एक बूँद मदिरा अब भी टपक रही है।"[41]

दृश्यबंध का उपरोक्त रूप नन्द और सुन्दरी के पारस्परिक संबंधों के बीच होनेवाली उथल-पुथल को अत्यंत प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त कर देता है। इसी प्रकार 'आधे-अधूरे' में खाली कमरा, तिपाई पर खुला हुआ हाईस्कूल का बैग, जिसमें आधी-कापियाँ और किताबें बाहर बिखरी हुई हैं, सोफे पर दो एक पुरानी मैगेज़ीन, एक कैंची और कुछ कटी-अधकटी तस्वीरें एवं कुर्सी की पीठ पर उतरा हुआ, झूलता हुआ पजामा पारिवारिक विघटन, संबंधों के बिखराव एवं चरमराती आर्थिक हालत का संकेत चुपचाप दे देता है।

अभिनय एवं दृश्यबंध संबंधी संकेतों के अतिरिक्त नाटककार ने वस्त्र विन्यास, ध्वनि और प्रकाश संबंधी निर्देश भी दिये हैं जो सटीक एवं प्रभावशाली होने के बावजूद निर्देशक की कल्पनाशीलता के लिए पर्याप्त अवकाश देते हैं। जिस प्रकार नाटक की भाषा एवं शब्द पूरे कथ्य के संदर्भ में अर्थपूर्ण होने चाहिए वैसे ही वेशभूषा, आभूषण इत्यादि को भी नाटक के मूल-कथ्य एवं अर्थ से अनिवार्यतः समन्वित होना चाहिए। यह तभी संभव है जब वेशभूषा, पात्र के स्वभाव, कर्म, आयु समाज में स्थान, उसकी व्यक्तिगत पसंद उसकी मनोदशा और उसके चरित्र को ध्यान में रखकर परिकल्पित की गई हो और उस चरित्र की कुछ खास विशेषताओं को उभारती हो। इस संदर्भ में आधे-अधूरे के चरित्र और उनकी वेश-भूषा के संदर्भ में नाटककार का निर्देश द्रष्टव्य है :

"पुरूष एक के रूप में वेशान्तर : पतलून - कमीज़। x x पुरूष दो के रूप में : पतलून और बन्द गले का कोट। x x पुरूष तीन के रूप में : पतलून टी-शर्ट। हाथ में सिगरेट का डिब्बा। x x x पुरूष चार के रूप में : पतलून के साथ पुरानी काट का लम्बा कोट।"[42]

वस्त्र-विन्यास संबंधी उपरोक्त रंग-निर्देश से स्पष्ट है कि व्यावहारिक सुविधा को ध्यान में रखते हुए नाटककार ने पाँचों पुरूष पात्रों को पतलून ही पहनाई है जिससे कि केवल ऊपर से ही वस्त्रों को बदलने से वेशान्तर किया जा सके। वेश-भूषा संबंधी उपरोक्त निर्देश में पतलून - कमीज़ कैसी और किस रंग-रूप की होगी इसका निर्णय रचनाकार ने निर्देशक के ऊपर छोड़ दिया है। इसी प्रकार सावित्री के वस्त्र-विन्यास के संबंध में नाटककार का निर्देश है:

"ब्लाउज़ और साड़ी साधारण होते हुए भी सुरुचिपूर्ण, दूसरी साड़ी विशेष अवसर की।"[43]

दो तरह की साडियों का यह निर्देश महज़ संयोग नहीं है बल्कि नाटककार ने बदलते माहौल और सावित्री की मनःस्थिति के परिवर्तन को रेखांकित करने के लिए सोच-समझकर नियोजित किया है। प्रसिद्ध रंगकर्मी कीर्ति जैन का निम्नलिखित विश्लेषण इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है :

"अगर सावित्री को पहले अंक में किसी चटख रंग की कीमती साड़ी में दिखा दें तो यह उसकी शारीरिक स्थिति, मानसिक हालत, मनोदशा और पसंद सबके विपरीत जाएगा। पर दूसरे अंक में जगमोहन के साथ बाहर जाने के समय सावित्री का ही चटख रंग की बढिया साड़ी पहनना ही उपयुक्त लगेगा। x x x ऐसा इसलिए उपयुक्त होगा कि वह सजने की खास कोशिश कर रही है, अपनी उम्र से कम लगना चाहती है, और अपने माहौल के खिलाफ जान-बूझ कर कदम उठा रही है, या विद्रोह कर रही है। तो पहले और दूसरे अंक के बीच पहरावे का यह बदलाव बहुत अर्थपूर्ण हो जाता है और बदलते माहौल को, या सावित्री के निर्णय को रेखांकित करता है।"[44]

वस्त्र-विन्यास संबंधी यह सुचिंतित दृष्टि न केवल सावित्री एवं पुरूष पात्रों के संदर्भ में बल्कि नाटक के प्रत्येक पात्र के संदर्भ में दिखाई देती है जो निश्चय ही नाटककार की वयस्कता और रंग-संकेतों के संबंध में उनकी गहरी समझ को दर्शाती है।

अभिनय एवं दृश्यबंध संबंधी निर्देशों की तुलना में मोहन राकेश के नाटकों में प्रकाश एवं ध्वनि-व्यवस्था संबंधी निर्देश बहुत कम दिए गए हैं। इसका मूल कारण यह था कि भारतीय नाटक का भविष्य राकेश के अनुसार पाश्चात्य रंग-चेतना की अनुकृति तथा तकनीक समृद्धि में न होकर शब्द और अभिनय को कलात्मक ढंग से समन्वित करने वाले निर्देशक के रंगमंच में है इसलिए मोहन राकेश ने भाषा के रचनात्मक प्रयोग और सही नाटकीय शब्द के चयन पर सर्वाधिक बल दिया एवं प्रकाश एवं ध्वनि-व्यवस्था संबंधी तकनीकी निर्देशों को लगातार कम करते गए। लेकिन जहाँ भी इस तरह के निर्देश नाटकों में दिए गए हैं वे अत्यंत प्रभावशाली है एवं नाटक के आंतरिक गठन का अनिवार्य हिस्सा है। इस संदर्भ में 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में अग्निकाष्ठ के द्वारा प्रकाश व्यवस्था संबंधी अत्यंत रोचक और नाटकीय प्रयोग उल्लेखनीय है। इस मंच उपकरण को राकेश ने 'स्पॉट - लाइट' की तरह इस्तेमाल किया है। विलोम का प्रथम प्रवेश अंधेरे में से अग्निकाष्ठ की चमकती लौ के साथ कराया गया है जो रहस्यमय प्रभाव की सृष्टि करता है। मल्लिका और कालिदास के बीच आकर कालिदास पर सीधा वार करने से पहले विलोम अग्निकाष्ठ के पास जाकर उसे सहलाने लगता है और इस प्रकार प्रकाश उसके मुख पर पड़ता है। कालिदास पर कटाक्ष करते समय विलोम अग्निकाष्ठ को कालिदास के मुख के निकट ले जाता है और इस प्रकार कालिदास का चेहरा प्रकाशित हो उठता है। मल्लिका के बीच में आ जाने पर प्रकाश उसके मुख पर पड़ने लगता है और विलोम कालिदास से पुनः संबोधित होते ही अग्निकाष्ठ का प्रकाश पुनः कालिदास के चेहरे पर पड़ने लगता है। जहाँ तक 'लहरों के राजहंस' का सवाल है उसमें प्रकाश-व्यवस्था संबंधी विशेष निर्देश नहीं दिए गए हैं। नाटक का आरंभ अंधकार से होता है फिर तीनों अंकों में क्रमशः रात उतरने का समय, रात का अंतिम प्रहर - दीपाधार का प्रकाश, फिर प्रभात और रात्रि के बीच का प्रहर संकेतित कर प्रकाश - व्यवस्था का स्थूल संकेत दे दिया गया है। इसी प्रकार 'आधे-अधूरे' में केवल दोनों अंकों के आरंभ और अंत में प्रकाश व्यवस्था संबंधी निर्देश दिए गए हैं एवं शेष पूरे नाटक के छायालोक की कल्पना का दायित्व निर्देशक के ऊपर छोड़ दिया गया है।

अपने नाटकों में राकेश ने प्रकाश-व्यवस्था संबंधी निर्देशों की तुलना में ध्वनि के विषय में अधिक निर्देश दिए गए हैं और उसका वैविध्यपूर्ण नाटकीय प्रयोग भी किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में घोड़ों की टापों से उत्पन्न ध्वनि-समूह द्वारा मल्लिका, अंबिका और विलोम की मानसिक स्थितियों का प्रस्तुतीकरण करते हुए नाटकीय द्वन्द्व को प्रभावपूर्ण तरीके से व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार 'लहरों के राजहंस' नामक नाटक में हंसों का स्वर, पंखों की फड़फड़ाहट, हंसों का आहत

क्रंदन, पानी में पत्थर फेंकने का शब्द, प्रभात की शंखध्वनि, कबूतरों की गुटरगूँ, खुटक - बड़ैया की आवाज़, दूर से किसी के दौड़ते आने की आवाज़ एवं 'घम्मं शरणं गच्छामि' आदि ध्वनियों का अत्यंत नाटकीय प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'आधे-अधूरे' में भी नाटककार ने ध्वनि-समूहों के द्वारा नाटकीय तनाव को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है। पहले अंक के अंत में 'एक खंडहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत' तथा संगीत के रूकने पर 'कैंची की चक् - चक - चक् ' के ध्वनि प्रभाव की योजना की गई है। राकेश की इस ध्वनि व्यवस्था की सटीकता को प्रसिद्ध रंगकर्मी राम-गोपाल बजाज ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

"पहले अंक के अंत के लिए पात्रों के परस्पर अलगाव और उनके संबंधों के कट-कटकर बिखरने को अभिव्यक्त करने के लिए हमने कई दिनों तक संगीत के कई-कई प्रयोग करके देखे परन्तु अंत में पाया कि उस स्थिति में 'कैंची की चक-चक' से बेहतर और कोई ध्वनि-प्रभाव संभव नहीं है और अंततः उसे ही रखा भी गया ।"[45]

(vii) निष्कर्ष एवं मूल्यांकन :

अपने समकालीन नाटककारों से भिन्न राकेश ने शिल्प के स्तर पर प्रयोग कम किया है। उनके सभी नाटक कमोबेश यथार्थवादी ढाँचे में हैं और काल-कार्य एवं स्थान की अन्विति का पूर्ण निर्वाह करते हैं। नाटकीय प्रभाव के लिए वे मुख्यतः चरित्र और स्थिति की विश्वसनीयता का सहारा लेते हैं। रूपबंध के स्तर पर मौलिक प्रयोग राकेश के नाटकों में बहुत कम मिलते हैं और जहाँ यह प्रयोग किए भी गए हैं वे अधिकांशतः बहुत कारगर नहीं हो पाये हैं। उदाहरण के तौर पर 'आधे-अधूरे' नाटक में एक ही अभिनेता द्वारा पाँच भूमिकाओं के निर्वाह के आग्रह में चाहे जितनी चौंकानेवाली नवीनता हो पर रंग मंच पर सभी पाँच भूमिकाओं के साथ न्याय कर पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। बहुत कम अभिनेता ही इस रंगयुक्ति के साथ न्याय कर सकते हैं। इसी युक्ति के कारण नाटक का अंत भी बनावटी और हास्यास्पद लगने लगता है जब जुनेजा 'संभलकर - महेन्द्रनाथ संभलकर' कहता हुआ बाहर आता है और कुछ ही क्षणों में महेन्द्रनाथ बनकर लौटता है। इसी वजह से नाटक के प्रारंभिक प्रदर्शनों में इस स्थल पर दर्शकों में करूणा की बजाय हँसी उभरती रही। इसी प्रकार 'लहरों के राजहंस' में नंद के अन्तर्मन के प्रतीक के रूप में श्यामांग के चरित्र की योजना भी कोई प्रभावशाली रंग-युक्ति नहीं कही जा सकती। पूरे नाटक की अन्विति में श्यामांग का चरित्र एक अवान्तर प्रसंग की तरह ही प्रतीत होता है जो नाटकीय प्रभाव को शिथिल कर देता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि अपने गिने-चुने नाटकों के द्वारा राकेश ने हिन्दी नाटकों के कथ्य और शिल्प को एक नया मुहावरा दिया है। शिल्प के स्तर पर चाहे उनके नाटकों में बहुत मौलिक प्रयोग न हों लेकिन जीवंत और गहरी

नाट्यानुभव से संपन्न भाषा, शब्द और क्रिया-व्यवहार का अन्योन्याश्रित संबंध प्रखर एवं प्रभावशाली बिंबों की योजना तथा सटीक एवं संगत रंग-संकेतों के द्वारा उन्होंने एक निजी रंग-दृष्टि की स्थापना की है जो हिन्दी नाटकों के भविष्य एवं दिशा को निर्धारित करेगी।

संदर्भ सूची :

1. आषाढ़ का एक दिन : दो शब्द
2. साहित्य और संस्कृतिः मोहन राकेश (नाटककार और रंगमंच) - पृ. 71-72
3. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' : जयशंकर प्रसाद : - पृ. 81
4. 'साहित्य और संस्कृति' : मोहन राकेश - पृ. 86
5. उपरोक्त : पृ. 89
6. उपरोक्त : पृ. 89
7. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' : जयशंकर प्रसाद : - पृ. 80
8. 'साहित्य और संस्कृति' : मोहन राकेश - पृ. 73-74
9. 'बकलम खुद' : मोहन राकेश - पृ. 73-74
10. नटरंग - 21 : 'एक नाटक का जन्म' पृ. 5
11. 'साहित्य और संस्कृति' : मोहन राकेश - पृ. 78-79
12. उपरोक्त : पृ. 80
13. आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 8
14. लहरों के राजहंस : मोहन राकेश - पृ. 38
15. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच (मोहन राकेश और उनके नाटक) - गिरीश रस्तोगी पृ. 146
16. "In this play Rakesh rehabiliated poetry in drama banished the realistic movement in theatre. Mallika's long saliloquies are the most poetic lines in the entire Hindi dramatic literature. This rehabiliation of poetry in drama was done more than three decades after Jayshankar Prasad had written in the early thirties his famous historical plays like Chandragupta and Skandgupta infused with great poetic power. One could see the great power of the word in this play, the rich lyricism and rhythm of the language.

    Suresh Awasthi - 'Last few days with Rakesh' Enact - 73-74
17. We have been writing words mostly for the sake of their literary effect. The playwright uptil now has remained

basically the man of literature and as such he has been too fond of the literary connotation of the words more often than not, many more words are written on a play than are necessary .. ..talking of my own plays, the first two plays I wrote were liked primarily for their literary refinement. But I felt that because of that very reason they failed to capture the mood and rhythm of life around me. .. .. In the third play I struggled to find the way by coming to grips directly with the realities of life around me and exploring a language which was direct and more addressed to people. .. .. For the last three years I have been more acutely concerned with the problem of finding a truly contemporary idiom of words that should belong exclusively to the theatre.

Changing role of words in theatre. Mohan Rakesh, Mohan Maharshi, Enact : 73-74

18.The word and the Sound should have the power to charge the actor and consequently liberate them. It happens in our folk plays .. .. I think a good play of today should be able to give the same feeling of release and personal realization which a folk actor abundantly has.

- Changing role of words in theatre : Mohan Rakesh & Mohan Maharshi, Enact : 73-74

19.आधे-अधूरे : मोहन राकेश - पृ. 66-67

20.आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 42

21.आधे-अधूरे : पृ. 20

22.आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 13

23.समकालीन हिन्दी नाटककार : गिरीश रस्तोगी, पृ. 42

24.अंधायुग : धर्मवीर भारती - पृ.

25.आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 87

26.लहरों के राजहंस के तीसरे संस्करण की भूमिका। (नेमिचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 199)

27.नेमिचन्द्र जैन द्वारा संपादित 'मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक' : पैर तले की जमीन : पृ.-367

28.आधे-अधूरे : मोहन राकेश - पृ. 20

29.आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 88

30.उपरोक्त : पृ. 110

31.उपरोक्त : पृ. 53

32.He has skillfully contrasted characters, their gestures and movements, their dresses, their language and its rhythms, their thought patterns and behaviour. He has also contrasted atmosphere and its effect and the setting of the different Acts of the play. His use of contrast is not for the sake of contrast. He uses it for dramatic tension, to heighten the dramatic impact of this play.

Ashadh Ka Ek Din : Contrast and parallelism, N.C. Thakur page-22

33.मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक : संपादक - नेमिचन्द्र जैन : पृ. 7

34.आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 25

35.लहरों के राजहंस : मोहन राकेश - पृ. 30

36.उपरोक्त : पृ. 107-108

37.आधे-अधूरे : मोहन राकेश - पृ. 14

38.नटरंग 21 : गिरीश रस्तोगी - पृ. 30

39.मोहन राकेश की रंगदृष्टि - जगदीश शर्मा : (मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक : सं. नेमिचन्द्र जैन) पृ. 122

40.आधुनिक हिन्दी नाटक का मसीहा : मोहन राकेश : गोविन्द चातक : पृ. 60

41.लहरों के राजहंस : मोहन राकेश - पृ. 68

42.आधे - अधूरे : मोहन राकेश - पृ. 9

43.आधे - अधूरे : मोहन राकेश - पृ. 9

44.नटरंग - अंक 38-39 : रंगशिल्प विशेषांक - 1982 (रंगमंचीय वेशभूषा : कुछ प्राथमिक सवाल : कीर्ति जैन) पृ. 80

45.राकेश स्मृति दिवस पर रामगोपाल बजाज के वक्तव्य से (मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ. 235)